

हिमालय

साहित्यकार-संसद की ओर से

लोकभारती प्रकाशन

१५ ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

HIMALAYA

Edited by Shrimati Mahadevi Varma

Price Rs 9 00

मूल्य	नौ रुपये
संस्करण	प्रथम संस्करण, १९६३
©	महादेवी वर्मा
आवरण	सोना धापाल
प्रकाशक	लाव भारती प्रकाशन, १५ ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद
मुद्रक	सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग



HIMALAYA

Edited by Shrimati Mahadevi Varma

Price Rs 9 00

संस्करण	प्रथम संस्करण, १९६३
©	महादेवी वर्मा
आवरण	सोना घोपाल
प्रकाशक	लाज भारती प्रकाशन, १५-ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद
मुख्य	सम्पन्न मुद्रणालय, प्रयाग

- इस पुस्तक से प्राप्य घनराशि महादेवी जी देश के सुरक्षाकोप में दे रही है

अनुक्रम

महादेवी	प्राकृतिक परिवेश और सस्कृति	१
	आपवाणी	३३
	स्मृत्याचन	३५
	आदि पुराण	३६
	श्री महाग्वि पुराण	३८
	मत्स्य पुराण	३९
	वाल्मीकि रामायण	४२
	महामारत से	६६
कालिदास	कुमारसम्भवम्	४८
	मेघदूत	५२
भारवि	किरातार्जुनीयम्	५४
तुलसीदास	हिमवान	५७
रवीन्द्रनाथ ठाकुर	हिमालय के प्रति	५८
इकबाल	तरानए हिन्दी से	६०
	हिमालय	६१
मुब्रह्मण्यम भारता	जयगान	६४
वरलताल	मातबदना	६६
राय देवीप्रसाद पूण	रजत गिरि कलास	६८
श्रीधर पाठन	बारभाग्या वमुधरा	६९
	दंग गीत	७०
मयिलीगरण गुप्त	मातभूमि	७२
	गघमादन	७४
माखनलाल चतुर्वेदी	वीरपूजा	७६
रामनरेण त्रिपाठी	द्विविधा	७८
गोपालगरण सिंह	हिमालय के प्रति	८०

जयशंकर प्रसाद	प्रयाण गात	८३
	हिमालय	८४
सियारामारण गुप्त	अमृताचल	८७
	पूजन	८८
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	हिंदुस्तान हमारा है	८९
उदयशंकर मट्ट	नगाधिराज के शिखर चमक उठे	९१
सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	भारती बंदना	९२
गुरुभक्त सिंह 'भक्त'	गलबाला	९३
सुमित्रानन्दन पन्त	हिमाद्रि	९४
इलाचंद्र जाशी	हिम विजन	१००
भगवती चरण वर्मा	कौन तुम जग्नि शिखा की ज्वाला	१०२
सुभद्रा कुमारी चौहान	बीरा वा कसा हो बसन्त ?	१०३
रामकुमार वमा	हिमालय स	१०५
गोपालसिंह नेपाली	मैं गायक हूँ स्वच्छन्द हिमाचल का	१०८
हरिवाराय बच्चन	चेनावनी	१११
बदरनाथ मिश्र 'प्रभात'	पृथिवी	११६
रामधारी सिंह 'दिनकर'	हिमालय के प्रति	११८
उपेन्द्रनाथ अश्व	सितारे कूद जायेंगे	१२३
श्यामनारायण पाण्डेय	पवत तटी	१२४
सच्चिदानन्द वात्स्यायन अनय	दूर्वाचल	१२५
गमगेर बहादुर सिंह	सत्यमेव जयते	१२६
नागाजुन	बादल को धिरते देखा है	१३०
बालकृष्ण राव	आज पहली बार	१३१
नरेन्द्र शर्मा	शौमानी	१३३
रामशंकर सिंह 'रावेण'	हिमालय-अभिमान	१३६
भवानी प्रसाद मिश्र	बमल के फूल	१३८
	प्रलय	१३९
रामेश्वर गुप्त अचल	वाग्निप्रास स	१४०
गिवमगन सिंह 'मुमन'	आज देग की मिट्टी बाल उठी है !	१४१
गम्भूनाथ सिंह	रममय हिमालय	१४३
गिरिजा कुमार माथुर	बरफ का धिराग	१४४
नमिताद्र जन	सुनागे ?	१४६

गंगाप्रसाद पाण्डेय	हिमालय स	१४९
चन्द्रकुंवर बर्वाल	हिमवत अचन	१५३
	तापस	१५४
नरग मटना	उषम	१५५
जगदीश गुप्त	नमन	१५७
	आख भर दस्ता कहा आख भर आई	१५८
	मैं वह क्या नहीं हुआ	१५९
विजय देवनायामण भाही	हिमालय की याद म एक पत्र	१६०
धनवार भारती	घाटी का वादल	१६२
पौद्धार रामावनार अरण	भारतवष	१६४
रामानन्द तिवारी	हिमालय	१६६
आनन्द मिश्र	हिमालय के आसु	१६७
रमानाय अवस्थी	हिमालय के प्रति	१७३
आरसी प्रसाद मिह	देवनात्मा जय हिमालय	१७५
केदारनाथ अग्रवाल	गुरु-श्रीरव गिरि सीमा पर	१७७
राजनारायण विसारिया	हिम त्रिरीट घारा	१७८
प्रेमेश मिश्र	परम प्राप्ति स फल	१८०
नीरज	मानमरावर आमुक्त है	१८१
रामानन्द दाया	तुम हमारी चाटिया की बक की मो मत	
	कुरेदो	१८२
नजीर बतारमी	बतन का शिवाला	१८४
वीरेश मिश्र	पवत क्या आशा है	१८६
	हिम देवता	१८७
अमीर हुनजी	भीडे सपने समेट लाते थे	१८८
वाग्वन्ध राही	चोटिया बर्फ का	१८९
महादेवी	तू मू के प्राणा का सनदन	१९१
	हे चिर महान्	१९३
अथर्वेश स	आशसा	१९४

जयशंकर प्रसाद	प्रयाण गात	८३
	हिमालय	८४
सियारामगिरण गुप्त	अमृताचल	८७
	पूजन	८८
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	हिंदुस्तान हमारा है	८९
उदयशंकर भट्ट	नगाधिराज के शिखर चमक उठे	९१
सूयकान्त त्रिपाठी निराला	भारती बढना	९२
गुरुभक्त सिंह भवन	शरणाग	९३
सुमित्रानन्दन पन्त	हिमाद्रि	९४
इलाचन्द्र जाशी	हिम विजन	१००
भगवती चरण वर्मा	बौन सुम अग्नि शिखा की ज्वाल	१०२
सुमद्रा कुमारी चौहान	बीरा का कसा हा बसन्त ?	१०३
रामकुमार वर्मा	हिमालय से	१०५
गोपाशंकर नेपाली	मैं गायन हूँ स्वच्छन्द हिमाचल का	१०८
हरिवंशराय यच्चन	चेतावनी	१११
बंदायनाथ मिश्र प्रभात	पृथिवी	११६
रामधारी सिंह दिनकर	हिमालय के प्रति	११८
उपेन्द्रनाथ अश्व	सितारे कूद जायेंगे	१२३
रामनारायण पाण्डेय	पवत तटी	१२४
सच्चिदानन्द दासपायन 'अनन्य'	दूर्वाचल	१२५
गंगाधर बहादुर सिंह	सत्यमेव जयते	१२६
नागार्जुन	बादल को घिरते देखा है	१३०
बालकृष्ण राव	आज पहली बार	१३१
नरेन्द्र वर्मा	बीसानी	१३३
रामइन्द्राल सिंह 'राके'	हिमालय-अभियान	१३६
भवानी प्रसाद मिश्र	कमल के फूल	१३८
	प्रलय	१३९
रामचंद्र गुल अचल	बालिनास स	१४०
गिरिमंगल सिंह मुमन	आज देग की मिट्टी बाग उठी है '	१४१
गम्भूनाथ सिंह	रसमय हिमालय	१४३
गिरिजा कुमार माथुर	बरफ का चिराग	१४४
नमिचन्द्र जल	मुनागे ?	१४६

गंगाप्रसाद पाण्डेय	हिमालय न	१४९
चन्द्रकुंवर वर्मा	हिमवत अचन	१५३
	तापस	१५४
नरस मटना	उपस	१५५
जादीग गुप्त	नमन	१५७
	आज भर दवा कहा आज भर आई	१५८
विजय देवनारायण साहू	मैं वह क्या नहीं हुआ	१५९
धमवार भारती	हिमालय की याद में एक पत्र	१६०
पादार रामावनार अरण	घाटी का बादल	१६०
रामानन्द तिवारी	भारतवर्ष	१६४
आनन्द मिश्र	हिमालय	१६६
रमानाथ अवस्था	हिमालय के आसू	१६९
बारसी प्रसाद मिह	हिमालय के प्रति	१७०
केदारनाथ अग्रवाल	देवनारमा जय हिमालय	१७१
राजनारायण बिसारिया	गुरु-गौरव गिरि सीमा पर	१७२
प्रेमन्द्र मिश्र	हिम किरीट धारी	१७५
नीरज	परम प्रीति से फला	१७६
रामानन्द दापी	मानसरोवर अमुक्त है	१७७
	तुम हमारा चाँदियों का दर्शन करो	१७८

प्राकृतिक परिवेश और सस्कृति

जब ज्ञान अपने आन्तिम रूप में बाह्य जगत् का अनन्त विस्तार रहा हो, बाह्य अग्नि का ज्वलन्ति विराट् पिण्ड उत्तम जगत् प्रकृति को उत्पन्न करने की क्षमता रहना निश्चित है।

अनु परमाणुओं ने जिस अज्ञान कृत सञ्जाकपित विरूपित हाकर जीवसृष्टि में अपने आपका आविर्भूत होन लिया यह तो अनुमान का विषय है परन्तु प्रायश्चित्त यही है कि प्रकृति की किसी ऊँचाई में उत्पन्न जीवन फिर उसी से सघन रहता हुआ स्वयं परिष्कृत होता चला आ रहा है।

यह परिष्कार क्रम मानव जीवन के समान ही वनस्पति और गैर जीव-जगत में भी व्यक्त होता रहता है। मर्मभूमि में उत्पन्न होता बागी वनस्पति, अपना रसायन लिए, विषय प्रकार के काटे-छूने और रस रसायन में अपनी जीवन-उत्थान को व्यक्त करती है और पत्त, जल आदि की वनस्पतियों भी अपने अपने प्राकृतिक परिवेश का अनुकरण ग्रहण करके ही विकास कर पाता है।

प्राणि-जगत में भी यह परिष्कार क्रम विविध और रहस्यमय है। इस प्रकार हम विज्ञान-मदति का ऐसा जवाब देना चाहना है जिसके द्वारा सृष्टि अपने प्राकृतिक परिवेश से कुछ मध्य, कुछ सममान करके सभी उससे अनुकूल बननी सभी उस अपने अनुकूल बनाना विकास का स्थिति उत्पन्न करती रहती है।

प्राकृतिक परिवेश में जीवप्रकृति का सम्बन्ध बस ऐसा नहीं है जसा सीप के समुद्र और माती में होता है। माती सापके मातर उसके द्रव से बनता अवश्य है परन्तु उसके बनने का प्रसक्ति विज्ञातीय सिक्कारूप से आरम्भ होता है जो किसी प्रकार समुद्र के भीतर प्रवेश पा लन पर उसका कामलना में चुन चुन कर प्रसक्ति करना रहता है।

वस्तुतः प्राकृतिक परिवेश के साथ जीवों प्रकृति का स्थिति घटती और बीज का स्थिति है जो एक का दूसरे में परिवर्तन है और जिसमें प्राप्ति से अन्त तक बाज का अपने तिर्यक के पापण-परिवर्तन के लिए नहीं अपनी स्थिति के लिए भा घटती की आवश्यकता रहता है।

माती माप में टलकर बनकर भी उससे निज हो जाता है और यह पुष्कता ही उसकी महापता का कारण है। शुक्ति-समुद्र में बस रहकर अन्त मन्द में

न उसे सज्ञा मिलती है, न मूल्य। इसके विपरीत बीज की, धरती के अघकार से बाहर आकर जोर वक्ष के रूप में परिणत होकर भा धरती के अनिरिक्त कोई स्थिति नहीं है। वह तो जिससे जन्म और पापण पाता है उसी से सघष रत रहकर बढ़ता है। दुक्ति से बाहर आकर मोती का महाध जीवन आरम्भ होता है और धरती छोड़ कर वक्ष की निश्चित मृत्यु आरम्भ होती है।

यह नियम मानव-जीवन और उसके प्राकृतिक परिवेग के सम्बन्ध में और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है क्योंकि वह भूतप्रकृति में जहाँ प्रकृति का श्रेष्ठतम रूप है। विनास का दृष्टि से महाकायता की गति लघुता की ओर और स्थूलता की सूक्ष्मता की ओर रही है। इसी नियम से किसी युग के विशालकाय जीव आज चिन्हशेष भी नहीं रह गए हैं।

मानव-जीवन जड़ और चेतना का ऐसा स्थायी सघिपत्र है, जिसमें पार्थिवता से वलित चेतना ही का विशेषाधिकार प्राप्त है। शरीर से रहित चेतना चाह आत्मभाव हो चाहे परमभाव परन्तु उसमें प्राण-स्पन्दन का अभाव ही रहूँगा और चेतना से रहित शरीर चाह वक्ष हो चाह मिट्टी, परन्तु उसमें विकासोमुख गति सम्भव नहीं रहेगी।

घोड़िन होने के कारण मनुष्य ने सभी महाकायता को जीवन का गन्तव्य नहीं बनाया। जत प्रकृति का सभी छोटी हथौड़ी लेकर उसे छोटा करने के लिए तरांगना नहीं पडा अथवा महाकाय जीवों के समान वह भी खण्ड खण्ड होकर बिखर जाता।

हृदयवान होने के कारण उसने अपने अन्तर्जन्म जीवन में ही जीवन से अधिक प्रिय मूल्यों का आविष्कार कर लिया और इन प्रकार अपने प्राप्त ही नहीं, सम्भाव्य मूल्यों के लिए भी वह बार बार जीवन देने लगा। परिणामतः अपने अनन्त सज्जन का निरन्तर सहार करने वाली प्रकृति ने यदि उस मिट्टान का धर्म व्यर्थ समझा, तो आश्चर्य नहीं।

प्रकृति ने मानव के निर्माण के लिए यदि अपनी जहाँ सृष्टि में असह्य प्रयोग किया है तो मानव भी उसे देवता बनाने के लिए अपनी मनोभूमि में भावसृष्टि द्वारा अनन्त प्रयोग करना आ रहा है। आज 'पुत्रा अहं पूयिष्या' कहने वाले पुत्र के सम्बन्ध में धरती की स्थिति पुत्रात् इच्छेत् पराजयम् द्वारा ही ध्यन का जा सकती है।

मानव जाति का उत्पन्न हुई वह एक कद्र में उत्पन्न होकर पृथ्वी के भिन्न भिन्न गण्टा में फैल गई या भिन्न भिन्न भू भागा में उत्पन्न होकर सामान्य विभापनात्रा के कारण जाति का सन्ना में बंध गई आदि प्रश्न जीवन के समान ही रहस्यमय हैं और नतत्वशास्त्री सभी इनका समाधान पा सकेंगे यह सदिग्ध है।

सम्बन्ध नाश में जाति गन्ध का, इतना व्यापक और गहरा अर्थ है जिसका पयास किसी अन्य भाषा में छात्रना कठिन होगा। जाति न किसी दग विशेष से सम्बद्ध है और न किसी मूल का की मना है।

सामान्यतः वह उन जमात विपेताओं का सम्मिश्र बोध है जो बाह्य गठन से अन्तर्जात तक फैली रहती हैं। मानव यदि जीव-जाति में कुछ निश्चित गारौतिक और मानसिक विपेताओं का मघात है तो जाति-शून्य गरीर और मानसिक दृष्टि से, उसी स्तर, योगी या कर्मा के जीवा की समष्टि का सकेत होता है।

जहां तब बाह्य विपेताओं का प्रान है प्रकृति किसी आवृत्तिप्रिय नहीं रही है। व्यक्ति तो क्या था तब बाह्य रूप में एक दूसरे से निम्न मिले। परन्तु जैन दा तरों अपन अपन षड्वर्ण में निम्न जान पड़न पर भी अपनी मूल तलीयता में एक रहती हैं वैमर्ही पुपा में पुष्पत्व और तणा में तण्डव एक रत्ता। मनुष्य जाति भी निम्न निम्न प्राकृतिक परिवर्ण से प्रभाव ग्रहण कर बण गठन जादि में शिपेप हाकर भी मानवापता में मानात्र रत्ता। एक टाग मू नाग का कृतावण मनुष्य, एक गीत मू माा के गौर का बाले में निम्न जान पड़न पर भी मानव-मानात्र विपेताओं में उसी जाति का सम्बन्ध माना जायता।

परिष्कार क्रम तो जानन की अपेक्ष है, अतः प्रयत्न समित्व के निवामी मानवों में जात अजात रूप से जवन विकसल की आर माता आरम्भ का हाती यह मा निदिबन है, परन्तु सबकी माता के परिणामा का एक विन्तु पर मिश्रता सुनिश्चय रहता। नशिया का उद्गम एक ही सकना है जतका गतिशीलता भी निदिबत हा सकती है परन्तु गन्तव्य और शिा का, रत्ता में सीमित रहना अनिवार है। इसी कारण सभी मू-मू-मू का मानव जाति एक माध, बद्धि और हृत्प के सम्कार के एक हा स्तर पर नहीं पहुच सकती।

सम्बन्ध गन्ध में हम निमका दोष हाता है वह वस्तुतः ऐसा जीवन-पद्धति है जो एक विशेष प्राकृतिक परिवर्ण में मानव निमित्त परिवर्ण सम्भव कर शती है और जिस नामा परिवर्णा की सगति में निरन्तर स्वयं आविष्कृत हाती रहती है। यह जीवनपद्धति न केवल बाह्य, मूल आर पारिवर्ण है और न मात्र आन्तरिक सूक्ष्म और अपारिवर्ण। वस्तुतः उनका ऐसा दार्शी स्थिति है जिसमें मनुष्य के सूक्ष्म विचार कल्पना भावना आदि का सस्कार उसका चेष्टा आवरण, क्रम आदि के परिष्कार में व्यक्त होता है और फिर चेष्टा, आचरण जादि बाह्याचार का परिष्कृति उनका अन्तर्जात पर प्रभाव डालती है।

सम्बन्ध, सम्बन्ध का पयास नहीं है क्योंकि वह किसी मनुष्य के मात्र नशाचार

या समा के उपयुक्त आचार हा को व्यव करती है। प्रकारान्तर से यह विशेषता मनुष्य के अन्तर्गत को स्पष्ट कर सकती है परन्तु प्रधानतः उसका क्षेत्र, मनुष्य का बाह्य आवरण है। प्रायः ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें बाह्य रूप से शिष्ट ध्यात, हृदय और बुद्धि के संस्कार की दृष्टि से असंस्कृत माना जा सकता है। कारण स्पष्ट है। संस्कृति मनुष्य की सहज प्रकृति के परिमाणन से सम्बंध रखने के कारण मात्र बाह्याचार से सीमित नहीं हो पाती। अनेक बार जिसे हम ग्रामीण और सम्य समाज के अनुपमक समझते हैं वह अपने अन्तर्गत के परिष्कार की दृष्टि से संस्कृत मानवा के कांटे में आ जाता है।

मनुष्य की सहज प्रकृति और उसकी स्वाजित संस्कृति में ऐसा अविच्छिन्न सम्बंध है जिसमें एक की स्थिति में दूसरे की गति निहित है। दृष्टि के लिए जस वस्तु से ग्रहित रंग की स्थिति नहीं होती वैसे ही मूल प्रकृति के अभाव में न विवृति में उसका अपवर्ण सम्भव है न संस्कृति में उसका सामाज्यपूर्ण उत्पन्न। इस प्रकार प्रकृति यदि गति का उभय है तो संस्कृति उस गति की निगमित सयमित मर्यादा का पर्याय।

मानव-समूह रूप से किसी शून्य में अवतरित नहीं होता बरन वह विशेष भू-खण्ड के विषय प्राकृतिक परिवेश में जन्म और विकास पाता है। पृथ्वी एक होन पर भी अनेक आकषण विकषण से प्रभावित और विविध है अतः तत्काल एक होन पर भी मानव जाति को अपने पृथक् परिवेश के कारण भिन्न भिन्न समस्याओं का सामना करना और भिन्न समाधानों को स्वीकार करना पड़ता है।

यही विविध जीवन-पद्धति एक मानव-समूह को अथ मानव समूह से भिन्न बना देती है। कालान्तर में एक विशेष प्राकृतिक परिवेश में विकसित मानव-समूह अपने सम्पूर्ण परिवर्णवलयित जीवन को, एक देश या राष्ट्र का व्यक्तित्व देकर सामाज्य मानव-जाति के भीतर एक उपजाति बन जाता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के समान ही उसका देश भी व्यक्तित्व सम्पन्न हो जाता है।

भौगोलिक परिवेश का मानव जीवन के साथ ऐसा आत्मीय सम्बन्ध रहा है कि विदग्ध जातियाँ ही घम या कुल के नाम से जानी जाती हैं। अविनाशित मानव जाति और उसकी संस्कृति प्राकृतिक परिवेश से ही मना प्राप्त करती रही है। रुनी घानी दीरानी मिथी आदि नामों में हम उनके निवासियों को पहचानते हैं। किसी भा महात्मा या लघुदेश में निवास करने वाली मानव उपजाति में उसकी घरती का सम्बंध इतना सामाज्य समर्थन और पवित्रता पा गया है कि एक जाति के द्वारा दूसरी के देश को छीनने का प्रयत्न ग्रहित और अनर्गल माना जाता है और ऐसा करने वाली मानव-जाति को, आनामक अत्याचारी की संज्ञा दी जाती है।

अनेक बार सगले मानव-समूह न इस नैतिक नियम को भंग किया है परन्तु वह कभी समग्र मानव जाति के स्नेह और आदर का अधिकारी नहीं हो सता। "किन्ति सधप को सफाता के उपरान्त भी विजेता और विजित का सस्कृतिया म सधप होता रहा और इस सम्भोर सधप मे वही सस्कृति विजयिनी रही जिसके पास जीवन के व्यापन मूल्य और उपलब्धिया था।

मानवजीवन की एकता म आम्त्यावान जाति के पास माना सम्पूर्ण आकाश का विस्तार रहता है जिस पर उमे विभाजित करन वाले रगोन बादल के समान बनने मिटने रहते हैं।

मनुष्य और उसके परिवेश को विशेष व्यक्तित्व देा की दिशा म, उनकी जिनामा अय वक्तिया से अधिक क्रियाशील रही है। साधारण आहार की याज से लेकर सुधम धम दान साहित्य आदि की सभी उपलब्धिया के मूल म वही जिनासा अयक रूप मे सक्रिय रहती आइ है। वह मूरया की खाज हो नहीं, उनकी निर्मात्री भी है वह प्रकृतिन्त अतन्ति का समाधान ही नहीं दती अतन्ति की परम्परा भा वनाती चलती है। जसे बाठ म अग्नि का स्थिति पहले से है घषण काल उन प्रत्यक्ष कर दता है उसी प्रकार मानव की जिनामा म चिर अतन्ति का अकुर जलन्य रूप से विद्यमान रहता है, जो एक समाधान के सम्पक से जनक की दिशा म क्रियाशील हा उठता है।

जिन पूवजा से हम धम दान साहित्य, नीति आदि के रूप म महत्वपूर्ण दायभाग प्राप्त हुआ है उनके प्राकृतिक परिवेश के भी हम उत्तराधिकारी है। उनके पवन धन मरु समुद्र ऋतुमें आदि प्राकृतिक नियम स कुछ परिवर्तित अवश्य हो गए हैं, परन्तु तत्काल उनकी स्थिति पूर्ववत् है और उनसे हमारे रागात्मक सम्बन्ध सस्कारजय ही नहीं स्वाजित भी रहते ह।

काल-समुद्र की अमरय तरंग भगिमाआ को पार करता और सहवा समाआ के आघात को झेलता हुआ, जो साहित्य हम तक पहुँच सका है यह हमारे अपराजेय पूवजा की सधप-कया ही नहीं, उनकी उग्र प्रणालि, कन्ति-कामल प्रकृति का उदगीय भी है। मेघ आकाश समुद्र, नदी, उषा आदि के जो छन्दमय चित्र उनकी तूलिका मे आवे हैं उनके इन्द्रधनुषी रग अम्पान और उज्ज्वल रखायें अमिट हैं। इतना ही नहीं उम चित्राला की हर रेखा, हर रग म भारत की घरता की छवि उसी प्रकार पहचानी जाती है, जिस प्रकार अनेक दपण-खण्डा मे प्रतिफलित एक मुताम्रति के अनक प्रतिविम्ब।

भारत ऐसा व्यक्तित्व-सम्पन्न राष्ट्र है जिसके प्राकृतिक परिवेश म मानव जीवों की विविध सस्कार-मृद्वि रही है। जीवन के परिष्कार क्रम म मनुष्य को

जो महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ मिली हैं, उन्हें स्थूल रूप से घम दशन, साहित्य, कला नामननीति आधार शास्त्र के गोपका में विभाजित कर सकते हैं। परन्तु ये भिन्न जान पड़ने वाली उपलब्धियाँ एक ही सस्कृति शरीर के अवयव हान के कारण मूलतः एक ही नहीं जायगी। इसी कारण इन सबकी समग्रता भारतीय सस्कृति की सना में अन्तर्निहित है।

ये उपलब्धियाँ सम्पूर्ण भारत का दायभाग ही नहीं मानवजाति का भी उत्तराधिकार हैं। अतः जिस प्राकृतिक परिवेग में ये प्राप्त हो सकी हैं, उसके प्रति तीव्र जिज्ञासा स्वाभाविक है।

पृथ्वी, पर्वत, नदी, वन, समुद्र आदि का सघात है और इस सघात के प्रत्येक रूप की वेदकालीन मनीषा ने इतनी सजीव चित्रमयता दी है कि हमें वे परिचित ही नहीं आत्मीय जान पड़ते हैं।

हमारे और हमारे वेदकालीन पूर्वजों के बीच में समय का पाट कितना विस्तृत है यह विभिन्न अनुमानों का विषय रहा है। विदेशी शाश्वतार्थी अपने पूर्वग्रहों के कारण इस १५०० वर्ष से दूर नहीं ले जा सके क्योंकि बाइबिल के अनुसार सृष्टि-रचना की अवधि ही ७५०० वर्ष में लगभग है।

जपान देश में अपौरुषेय कहकर वेदवादमय सम्बन्धी जिज्ञासा ही कुण्ठित कर दी गई। इतना ही नहीं उसे ऐसी अदभुत पवित्रता से आच्छादित कर दिया, जो दूसरों का पवित्र करने के स्थान में स्वयं अपवित्र हो सकती थी। अतः हर क्षण उनकी पवित्रता की रक्षा में सप्तद्व प्रहरियाँ ने उसे असूयपश्य बना डाला। जब ब्रिटेनिया ने इस लटमण रेखा को पार कर लिया, तब कुछ भारतीय विद्वानों ने भी साहस किया।

जिन्होंने विदेशियों का अधानुकरण मात्र न करके वेदवादमय के सम्बन्ध में अपने स्वतन्त्र मत की तत्पररणि द्वारा स्थापना की है उनमें लोकमाय तिलक प्रमुख हैं। वे एगोर्, ज्योतिष के सिद्धांतों के आधार पर वेदवादमय, ब्राह्मण ग्रन्थ ज्ञानि के रचना काल के विषय में किन्हीं निष्कर्षों तक पहुँचे हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण-काल में वृत्ति का नक्षत्र प्रथम माना जाता था और उमा में दिनरान बराबर हात थे। आजकल सूर्य के अदिनी नक्षत्र में रत्न पर यह स्थिति होता है। इस परिवर्तन के लिए ४५०० वर्षों का दीर्घ समय लगा होगा।

वृत्त के रचना काल में मणिगिरा नक्षत्र ही प्राथमिकता पाना था और सूर्य के इसी नक्षत्र में रहने पर दिन रात बराबर हान था। मणिगिरा ही में वसन्त-सम्पात होता था परन्तु यह स्थिति ६५०० वर्ष पूर्व ही सम्भव थी। इसी प्रकार के अन्य साक्ष्यों के आधार पर कुछ मात्रा का समय १९००० वर्ष पूर्व तक पहुँच गया है।

भूगर्भ ग्रास्त्र के अनुसार पृथ्वी, पर्वत, समुद्र आदि के परिवर्तन के आधार पर भी कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त हो सके हैं।

ऋग्वेद में पूर्व पश्चिम समुद्रों का भी उल्लेख मिलता है और चार समुद्रों का भी।

उभौ समुद्रावा क्षति घटच्च पूर्व उतापरः।

ऋक्० १० १३६५

(मुनि) दोनों समुद्रों के घाव जाते हैं—एक वह जो पूर्व में है और दूसरा वह जो पश्चिम में है।

राज्य समुद्रा इक्षतुरोऽस्मभ्य सोम विद्वतः।

आ पवस्य सहस्विणः।

ऋक्० १ ३३६

हे सोम ! समुद्रों में पूरा चारा समुद्रों और महत्ता कामनाओं हम प्रदान करो।

कन्नड़ समुद्र का उल्लेख भी अनेक सूक्तों में अनेक बार आया है। सौ अरिन्न (डाढ़) वाली नावों के बर्णन भी कम नहीं।

य ईक्ष्यति पवतात तिर समुद्रमणवम्।

मद्वभिग्न आ गहि।

आ ये तयतिरदिमभिस्तिर समुद्रमोजसा।

मद्वभिग्न आ गहि।

ऋक्० १ १९७, ८

हे अग्नि ! आग्यों का संचालन करनेवाले और जलका समुद्र में गिराने वाले मद्वता के साथ आइए। हे अग्नि ! सूर्यकिरणों के साथ सरस व्यापन और समुद्रों को अपने बर में ला-लेलित करने वाले मद्वतो के साथ आइए।

अनारम्भणे तदवीरयेधामनास्थाने अप्रभणे समुद्रे।

मद्विधना अह्यभुज्युमस्त गतारित्रा नावमातस्थिवाप्तम।

ऋक्० १ ११६५

हे अश्विद्वय ! निराधार समुद्र में पड़े हुए भुज्यु को तुमने सौ डाढ़ा वाली नाव सहित गृह पहुंचा लिया। यह तुम्हारा पराक्रम है।

ऋग्वेदिक काल के चार समुद्रों में से, उत्तरी समुद्र की स्थिति, हिमालय के उपरान्त बाह्योक्त और फारस के उत्तरी भाग से तुर्किस्तान के उत्तर-पश्चिम तक रही होगी जिसके अवशेष रूप में दृष्णसागर, कश्यपहृद, अराल और बल्कानहृद आदि की स्थिति है। समुद्र के उत्तर की भूमि ध्रुव प्रदेश तक फैला होगा।

दक्षिण समुद्र के अवशेष राजपूताना की साबर शीत और मरप्रदेश में मिलते हैं। पश्चिमीय समुद्र अरब सागर से मिला होगा और पूर्वीय समुद्र की स्थिति हिमालय की सल्हटी से लेकर आसाम तक रही होगी।

जिस प्राकृतिक कारण से हिमालय का जन्म हुआ उसी से समुद्र भी हटे होंगे। फिर उसी जन्म से अधिक जल राने वाली नदियों की यात्रा दीर्घ हो गई होगी, और कम जल वाली सिक्ता में खा गई होगी।

भूगर्भवेत्ताओं के अनुसार इस प्रकार के परिवर्तन में २५ ००० वर्ष से लेकर ७५ ००० वर्ष तक लग सकता है। ऐसी स्थिति में वेदिक साहित्य के निर्माण काल के सम्बन्ध में न इति न इति कहना ही उचित होगा। समय-सागर का यह अमाप विस्तार तब हम विस्मय के चरम बिन्दु तक पहुँचा देता है जब हम अनुभव करते हैं कि इनकी हर लहर हमारी चिर परिचित है।

भौगोलिक रूपान्तरों में भारत भूमि की सात्विक एकता को खण्डित नहीं किया है इसी में वर्तमान प्राकृतिक रूप अतीत रूपों से उसी प्रकार सम्बद्ध है जिस प्रकार हम अपने पूर्वजों से।

हिमालय के लिए हिमवान् नाम ऋग्वेद और अथर्व में अनेक बार आया है। मूजवत पर्वत का जो उल्लेख ऋग्वेद अथर्व शतपथ ब्राह्मण आदि में मिलता है, उसमें पाता होता है कि वह गंधार प्रदेश में स्थिति रखता था और उसके उत्तर रुद्र का स्थान था। महाभारतवार ने—

गिरे हिमवत पठे मुजवान नाम पर्वत ।

तप्सते तत्र भगवान् तपो नित्यमुभापति ।

कश्चर इत्तं स्मरण किया है।

मत्तरीय आरण्यक में तान पर्वतों का उल्लेख है

मुदगने श्रीचे मनागे महागिरौ ।

पुराणा तथा महाभारत के अनुसार मनाक की गंगा से उत्तर है और इसमें निबट विदुषार सरासर गंगा का उद्गम स्थल है।

वहलसहिता के अनुसार नीच पवन मानमरावर और बलाग स श्रिग है और इसा क ररन या दरें स हम मानमरोवर पहुँचने हैं।

हिमालय की तीन श्रिगियाँ बाटुजा क समान पूव और पश्चिम छारा तक फनी हुई हैं। बाटरी श्रिग म गिवालि की श्रिगियाँ हैं दूसरा म बन्मीर कागडा, कूमाचल आदि हैं और फिर महा हिमयल की श्रेणा म नला दवी, निगूला गीरीगार आदि उन्नत गिगर हैं। इमी श्रेणी म तुगनाय, वन्रा, वन्गर आदि की स्थिति है। वही कुनर की बलकापुरी बसी है। वन्रिकाग्रम के पास ही गयमान पवन है, जिस महाभारतकार ने अतिपरिचित बना लिया है।

इस श्रेणी म १८००० स लर ३०००० फूट तक ऊँच हिमावत गिगर हैं। पूव का श्रिगिया म लोहित क्षेत्र और ग्रहपुत्र की घानी है। पश्चिमी सीमाना क कृष्णगिरि (मुन्मान) और गयणावन क्षेत्र का गान भी श्रुवद क श्रुपि को था।

ससार के निमी पवन की जीवन-कथा इननी रहस्यमयी न हागी जिननी हिमाग्य की है। उसकी हर चाटी हर घानी हमार धम, दान, काव्य स हा नहा, हमार जावन क सम्पूर्ण निययन स जुडी हुई है।

जिस प्रकार गगा-यमुना जीर अन्त मलिला सरस्वती क बिना हमार महादग क सजल पर रहस्यमय हृय की कल्पना नही का जा सकनी उसी प्रकार अन्नकप हिमाग्य क बिना ग के उन्नत मस्तन की कल्पना सम्भव नही है।

ससार के बिमा अय पवन का मानव की ससृति काव्य दान धम आदि के निर्माण म ऐसा महत्व नही मिला है जमा हमार हिमालय को प्राप्त है। वह माना भारत की सदिलष्ट विगपनाआ का ऐसा अक्षण विग्रह है जिस पर काल कोई खराब नहा लगा सका।

वस्तुन हिमालय भारतीय ससृति के हर नय चरण का पुरानन साया रहा है। भारतीय जीवन उसकी उजली छाया म पलकर मुल्लर हुआ है उसकी गुभ ऊचाई छून के लिए उन्नत बना है और उसके हृदय से प्रवाहित नलिया म धुलकर निवरा है।

प्राकृतिक परिवग म परिवनन स्वाभाविक ही रहत हैं। जहा अनीत काल म गम्भीर बगवनी नलियाँ था, वहाँ जलत ताग्रपत्र जसा दष्टि का गुलसा दन वाला मरु का विस्तार है। जहाँ अन्ल समुद्र था वहा समविपम ममतल गत निकल आय है। श्रुनुयें वल्ल गद वनस्थनिया म परिवनन हा गया है और ग्रह-सत्रा की गति म अन्तर आ गया है। परन्तु बन्कि युग स अधुनातन युग तर हिमालय स भारतीय जावन का रागात्मक सम्बघ उत्तरात्तर गहरा ही हाना आ रहा है। यह गहराई इस

सामा तब पहुँच गइ है कि हिमालय को कभी न देख पाने वाला भा उससे दूरी का अनुभव नहीं करता ।

जीवन के अतल समुद्र से अपनी विणिष्ट मेधा के साथ उठने वाले वदिक मानव के समान ही, पृथ्वी के किसी कम्पन के कारण जल राशि से हिमालय भी ऊपर उठा हागा । पृथ्वी और पर्वत दोनों में वह विस्फोट-जनिन कम्पन कुछ समय गप रही होगी, इसी से ऋषि कहता है—

य पथिवीं ययमानामद् दद्य पर्वता प्रवृप्तिता अरम्भात् ।

यो अन्तरिक्ष विममेबरीयो यो द्यामस्तम्नात्स जनास इन्द्र ॥

ऋक० २ १२ २

निम्ने व्यथित (हिलती हुई) पृथ्वी को दड किया जिसने क्षुब्ध पर्वतों का गालत किया जिसने विस्तृत अन्तरिक्ष को फलाया और जिसने आकाश को स्थिर किया हे जनों ! वह इन्द्र है ।

पर्वतों के पक्षा की पौराणिक कथा के मूल में भी यही कम्पन रही होगी ।

किसी भी दंग के मानव समूह के पास बल्कि वाङ्मय के समान प्राचीन और समृद्ध वाङ्मय नहीं है । इतना ही नहीं किसी भी भू-खण्ड का मानव गव के साथ यह घोषणा नहा कर सका है—

माता भूमि पुत्रो अह पथिया

—अथ

भूमि माता है । मैं पथिवी का पुत्र हूँ ।

आश्चर्य नहीं कि हम प्रकार कहने वाले का पवन बन नहीं आता सहान्द्र सहान्द्रायें जान पड़े ।

गिरयस्ते पर्वत हिमवन्तो रण्य ते पथिवि स्थोनमस्तु ।

—अथ

ह पथिवी । तेरे पर्वत तरे हिमावन गड, तर अरण्य सुतन्त्रायक हा ।

घरनी का मोन्य उह इतना प्रिय था कि व उस अनन्त काल तक देगन रहने की कामना करते थे—

याजत तेभि पथ्यामि भूमे सूर्येण मेदिना ।

तावमे चक्षुमिष्टोत्तरामुत्तरां समाप ।

—अथ

हे भूमि ! प्रकाशित सूर्य के साथ जब तक तेरी ओर देगता रहूँ तब तक वपवर्षान्तर तक मेरी दृष्टि क्षाण न हो।

आज के वनानिज युग में, जहाँ मनुष्य पृथ्वी से सन्न कुछ लेकर भी उस नष्ट करने के माधन खाजता रहता है वदित मानव की यह भावना विस्मय-जनक है—

उदोराणा उतासीनास्तिष्ठत प्रशामन्त ।
पदभ्या दक्षिणसव्याभ्या मा ध्ययिष्यहि भूम्याम् ।

मा ते मम विघ्नम्वरि मा ते हृदयमपिपम ।
—अथ

उठन हुए, बठन हुए खड हुए और दक्षिण वाम पैरा से बढ़ते हुए हम भूमि का ध्यया (पीडा) न पहुँचायें।
हे पवित्र करने वाली ! मैं तेर मम को, तर हृदय का आघात न पहुँचाऊँ।

परन्तु इतनी भावुकता उह बल से विरक्त नहा बना देती

अजोतोऽतो अमृतोऽम्यन्ता पृथिवीमहम् ।

मैं अपराजित, अमर अमर हाकर पृथ्वी पर अधिष्ठित रहूँ।
सागो भूमिस्तिष्यति बल राष्ट्रे श्वातुतमे ।

वह पृथ्वी हमारे सर्वोत्कृष्ट राष्ट्र में आज और गति उत्पन्न कर।
हिमवन्त और भारत भूमि के प्रति इसी गम्भीर अनुराग का सत्कार लेकर

युगयुगान्तर तक नवीन पीढ़िया आती रहा है। ऋग्वेद के ऋषि का हिमवन्त आदि-कवि वाल्मीकि के युग तक पहुँचते पहुँचते शल्लेद्र का विगेष व्यक्तित्व पा रता है। महाभारतकार उस स्मरण ही नहीं करना, प्रत्युत हिंसाजनित विजय स क्षुभ पाण्डवा का उसका हिमसातल अब में समाधित्य कर देता है।
कविगुह पालिगस के काव्या मता हिमालय सुख-दुःख के अनन्त उच्छ्वासा में

स्पन्धित हो उठता है। उसका जन्म पानवाली पावती धरती तपश्चरण द्वारा ही शिव का वरण करके अपराजय कुमार को जन्म देता है।
तब से आज तक यह शिव के पुजीभूत अट्टहाम सा उज्ज्वल पवन भारतीय

साहित्य कला आदि का सहचर रहा है। इस पर दृष्टि पड़ते ही कवि के हृदय में अनन्त भावनाओं की घटाये उमड़ आती हैं और चित्रकार को आका से विविध रंगमय स्वप्न वरम पड़ते हैं। मूर्तिकार को इसमें जीवन की विराटता प्रत्यक्ष हा

जाती है, स्वरवार के आराह-अर्रोह इसकी परिजमा करने लगते हैं और नृत्यवार इसमें महाकाल के ताण्डव और लास्य की चाप सुन लेता है।

आकाश के इन्द्रनील बितान के नीचे चादनी का जमा कर बनाए गए से शिखर भारत का ऐसा मकुट जान पड़ते हैं, जिन पर किरणें केशर के फूला के समान वरसती रहती है।

भारतीय कल्पना ने इस विराट सौंदर्य में शिवत्व की भावना की और इसकी सहचारिणी की खोज करते करते ही मानो तीन अलग समुद्रों के मिलन सीमान्त पर खड़ी कन्याकुमारी को चिरतन स्वयम्बरा बना दिया है।

यह स्वाभाविक भा था, क्योंकि विराट अचलता का साथ असीम चञ्चलता ही दे सकती है और अनन्त फोलाहल का उत्तर अनादि स्तब्धता में ही मिल सकता है।

हिमालय को हमन दुर्लभ्य माना है जलमय नहीं। अनेक बार स्नह-तरल हृदय से हीले पग रसते हुए जिनासु इस पार कर आये हैं, अनेक बार अस्नाना की प्रकार से इसका समाधि ताड़ने हुए दपस्पीन अहकारी शत्रु भी इस लक्ष्य आय है। जो जिस प्रचार का अतिथि बनकर आया, इस भूमि के निवासियों ने उसका अम्ययना भी उसी प्रकार के उपकरणों से की। युद्ध में, प्रणम्य शत्रु का, हमारे प्रणाम भी बाण की नाक पर गए हैं।

मानसरावर तथा कलांग का भारतवर्षी अपन महादेश का पवित्रतम भाग मानता रहा है और प्रत्येक युग में कवियाँ ने उसके स्मरण से अपने काव्य को पवित्र बनाया है। यह गिव का आवास ही नहीं जीवन की गिवता का भी प्रताक है। जैसे जैसे सप्तसिन्धु की मस्कृतिवाहिनी आगे बढ़ती गई अथ पर्वत भी उसकी आभीयता की सीमा में आने गए।

अनेक पौराणिक कथाओं का केंद्र पुरातन विध्य, राजस्थान का अबुद विध्य के दक्षिण का ऋक्ष (मतपुडा की श्रणियाँ) गुक्तिमान की पहाड़ियों दक्षिणापथ के सत्वाद्रि मलय आदि में मानो एक विंगल पर्वत परिवार का स्थापित हो गया, जिसमें सब मिलकर ही भू भूत का वसतव्य सभालते हैं।

भारत नृत्या की नटि में भी बहुत समृद्ध रहा है। उसकी सस्कृति का आरम्भ और विकास नृत्या के तटा पर ही हुआ है अतः उनमें प्रति भक्ति भाव उसकी सस्कृति की विगपता बन गया है।

वर्षिक वाह्यमय में अनेक नदियाँ के नाम आये हैं जिनमें कुछ के नामा में परिगनन हो गया है और कुछ अथ अफगानिस्तान के सीमान्त में हैं। परन्तु अधिकांश नदियाँ हमारा जानी पहचानी ही नहीं, शरीर की रक्तवाहिनी गिराओ के समान जीवन और सस्कृति की वाहिनी भी हैं।

पुराण तो कह सौ नदिया की सूचा दन हैं, परन्तु ऋषि म उल्लिखित नदिया की मध्या भी कम नहा है। अष्टक ऋषि (विश्वामित्र क पुत्र) सप्त आप के अनिरक्त अम ९९ नदिया की चर्चा करत हैं—

मयति नम च ओत्पा सवन्ती।

श्रु० १० १०४ ८

(नियामय बहती हुई नदियाँ)

सप्त सिन्धु का उल्लेख अनेक बार हुआ है। उन्कालीन प्रमुख नदिया म गंगा ममुना, सरस्वती गुनुदी (मनस) पर्णवा (रावी), अस्तिनी (चिनाब), वितीस्ता (सतलज), आर्जिकाया (घ्यास), सिन्धु मुषासा (साहान), मरुवधा तप्टामा रसा, इक्ष्वा (शाह), कुभा (काबूल) गाम्त्रा (गामल), श्रमु (श्रम), मरुन्नु दपदवता का बचा बार बार हाती रहीं हैं।

जलवायु क परिवर्तन स उत्पन्न बरा अवध का प्रभाव नदिया पर विपय रूप स पता है। पश्चा क कम्पन म भी इनकी गति और स्थिति म परिवर्तन स्वाभाविक हा जाता है। आज अरब सागर म गिरनवाली बन्दु नदी पहा कम्पन हृद मे गिरता थी।

जिस सरस्वती की स्मृति म वैदिक ऋषि का बन्धना मुन्दर छन्द रचना म व्यक्त हुई है वह पहले राजपूताना म स्थित समुद्र म गिरती थी। जब समुद्र पीछे हटा और पश्चात मिट्टा म पन सकन क कारण बहा मरु का बिल्साग मात्र रह गया, तब वह महामाग तन्वी हान हान विकृता म सा गद। दुपदवता सरस्वती क समानान्तर बहते हुए उसा म मिल जाती थ। य दस्ता हा सरितायें जा यन का प्रमुख स्थान थी कालान्तर म प्राकृतिक कारण स लुप्त हा गद। परन्तु सत्कारजन संह जीव श्रद्धा क कारण भारतीय मानस सरस्वती का अन्त सरिला कहकर जीवितगी म दसका स्थिति मानकर आज भा प्रयत्न हाता है।

श्रमश प्रसार क कारण जब दक्षिण का नदिया परिवर्तन का सामा म आ गद तब स भारतीय जन मानस प्रत्येक सक्थ के अन्तर पर मम्भूष भारतवष का ही स्मरण नहीं करता बह

गो च यमुने अब गोदावरि सरस्वति।

नर्मदे, सिन्धु कायरि जलेऽस्मिन् सन्निधि कृह॥

कहर पवित्र हाता है।

प्राकृतिक परिवर्तन का विविध रस्य रसमम मजीवना न एक थार अदिक

जाती है, स्वरकार के जाराह-अवराह इसकी परिक्रमा करने लगते हैं और नृत्यकार इसमें महाकाल के ताण्डव और लास्य की चाप सुन लेता है।

आसाम के इद्रनील वितान के नीचे चादनी को जमा कर बनाए गए से शिखर भारत का ऐसा मकुट जान पड़ते हैं जिन पर किरणों के गर के फूला के समान धरमनी रहती है।

भारतीय कल्पना ने इस विराट सौंदर्य में निवृत्त की भावना की और इसकी सहचारिणी की खोज करते करते ही मानो तीन जटिल समुद्रों के मिलन-सीमान्त पर खड़ी कन्याकुमारी को चिरन्तन स्वयम्बर बना दिया है।

यह स्वाभाविक भी था क्योंकि विराट अचलता का साथ असीम चंचलता ही दे सकती है और अन्त कोलाहल का उत्तर अनादि स्नेहता में ही मिल सकता है।

हिमालय को हमने दुर्लभ माना है अलक्ष्य नहीं। अनेक बार स्नेह-तरल हृदय से हीले पग रखते हुए जिनासु इसे पार कर जाये है, अनेक बार अस्वसन्ना की मकार से इसकी समाधि तोड़ते हुए दपस्फीत अह्वारी गन्धु भी इसे गाय आये हैं। जो जिस प्रकार का अनिधि बनकर जाया, इस भूमि के निवासिया ने उसकी अम्यधता भी उसी प्रकार के उपकरणों से की। युद्ध में, प्रणम्य शत्रु को हमारे प्रणाम भी बाण की नाक पर गए हैं।

मानसरोवर तथा कल्याण का भारतवासी अपने महादेव का पवित्रतम भाग मानता रहा है और प्रत्येक युग में कविया ने उसके स्मरण से अपने काव्य का पवित्र बनाया है। वह शिव का आवास हा नहीं जीवन की निवृत्ता का भी प्रतीक है। जस जसे मत्तसिन्धव की सस्त्रुतिबाहिनी आगे बन्ती गई, अथ पवन भी उसकी आत्मीयता की सीमा में जान गए।

अनेक पौराणिक कथाओं का केंद्र पुरातन विध्य राजस्थान का अबुद विध्य के दक्षिण का ऋक्ष (सतपुड़ा का श्रृणियाँ) गुक्तिमान की पहाड़ियाँ दक्षिणापथ के सह्याद्रि मलय आदि से माना एक विनाल पर्वत-परिवार ही स्थापित हो गया जिनमें सब मिलकर ही भू भूत का वस्तव्य सभालते हैं।

भारत नृत्या की नृष्टि से भी बहुत समृद्ध रहा है। उसकी सस्त्रुति का आरम्भ और त्रिवाग नृत्या के तटा पर ही हुआ है अतः उनके प्रति भक्ति भाव उसकी सस्त्रुति की विशेषता बन गया है।

वर्तमान वाद्यमय में अनेक नृत्या के नाम आये हैं जिनमें कुछ के नामों में परिचय दे दिया गया है और कुछ अत्र अफगानिस्तान के सीमानात्र में हैं। परन्तु अपिवाग नृत्या हमारा जाना पहचानी ही नहीं, शरीर की खनबाहिनी गिराओं के समान जीवन और सस्त्रुति की बाहिनी भी है।

पुराण ता वर्द सौ नदिया की सूची दत है परन्तु ऋग्वेद म उल्लिखित नदिया की संख्या भी कम नहीं है। अष्टक ऋषि (दिव्यामित्र व पुत्र) सप्त बाप के अनिरिक्त अथ ९९ नदिया की चचा करत हैं—

नवनि नय च स्रोत्या स्रवन्तो।

१० १०४८

वाङ्मय को स्थूल में सूक्ष्मतर होने वाला अणुय मौल्य-वाच दिया और दूसरी ओर मानव जिज्ञासा को प्रत्यक्ष समाधान से शून्यतम दार्शनिक सरणिमा तब अनन्त विस्मय द डाला।

प्रकृति के सौन्दर्य की निश्चित रखाआ ने यदि उन पर चेतना का आरोप सहज कर दिया तो आश्चर्य नहा। यह आरोप स्थूल साक्ष्य से चलकर सूक्ष्मता की उस सीमा तक पहुँच गया जहाँ वह सबवाद के रूप में निश्वात्मा का प्रतीक बन गया।

नदी वन पर्वत आदि के यथातथ्य चित्रा की पट्टभूमि में ऋषि का जो सूक्ष्म निरीक्षण है वह। उस ग्राह्य रूपरेखा में अन्तर्निहित सामञ्जस्य का देयने का क्षमता देता है।

जो वेगवनी सिन्धु की स्पष्ट रेखाएँ जावता है, अरण्याना को चिर-परिचित रूप में छत्रायित करता है वही उपा वरण आदि के अतीन्द्रिय सौंदर्य का भावन करता है जीवन जीए मष्टि के विषय में गूढ़ जिज्ञासाआ को वाणी देता है।

सिन्धु के लिए ऋषि कहता है—

ऋजीत्येनी दगती महित्या परिचयसि भरते रजासि।

अदधा सिधुरपसामपस्तमाइवा ध चित्रा वपुषीव दगता।

ऋक० १०-७५-७

सिन्धु की गति सरल है। वह स्वेनवर्णा और शीतिमयी है। वह अहिंसित वेग मुक्त जल को मध्य पहुँचानी है। सिन्धु (वेग में) अश्विनी के समान अदभुत और (तरंग भंगिमा में) रूपवती स्त्रा के समान दगनीया है।

इसी प्रकार सरल स्पष्टता में वह अरण्याना का चित्र जावता है—

यपारवाय वदते यदुपावति चिच्छिक्व।

आधादिभिरिव धावन्नरण्यानि महीपते॥

ऋक० १०-१४६-२

इस घने वन में घाट जन्तु वल् के समान गच्छ करता है। कोइ ची चा करके भानो उमवा उत्तर दना है। ऐसा जान पता है माना बीणा के भिन्न स्वरा में प्रोन्नत अरण्यानी की महिमा गान है।

तानिक सूक्ष्मता के व्यापक आकाश के नीचे भारतीय जावा अरण्य-मस्त्रुति अथवा हृत्पर पुष्पीपुत्र की मस्त्रुति का निराम चलता रग है। यह मस्त्रुति अपने धम जगन का धरती में प्रकाश यह अनिराग है जाना है।

गन्ध हस्ति रान्नार गरिमाआ का नीच रजत गिराजाल विस्तृत बहुदारी

समस्त, विविध वन-पशु-पक्षि-प्राणी का समान आदि भारतीय मानव के साथ साथ समय का तरंग पर चलन निरत, निरतरन चल आ रहे हैं।

वैदिक काल व जयव (पीन) गमी (छेकुर) गिगा (गीगम, गीग) गामलि (मेमर), पगग (टमू) आदि जनवाण जनसाध आन भी प्रामा की सीमा और नगर भागा व प्रारी बन हुए हैं।

इन मनु जाव मा मुग्म हैं। यव गहि गावम आदि घाया की हरीनिमा म आन भी घर्ती का अचल लहराना है।

पगुना म गा जयव मप मतिप कुक्कुर जादि निय परिचिन प्राम-पगुना स लकर विननवामा ह्यमि गारमग वृणवार वस्त्ररामा आदि तब सब इन घर्ती क पूर्ववत मगी हैं।

इसी प्रकार अनन्त हम औष वनजाव स लकर प्रमग गुक गहुनि (काक) आदि विविध पक्षि-पशु म और वरिचक स जते गगनप्रिय जन्तुअमि हमार जीवन का चिर परिचम है।

दादुर वरिचक अपि का ही वदपाटिया का स्मरण नहीं बगना या आज भी नदी पोखरा म उसकी स्वरगहरी गला गिगी रहती है।

गा क प्रति भारतीय का का सम्कार-जय अज्ञा है उसका अकुर क वद क प्रसिद्ध गा मूक्त म आजा जा मवना है।

आ गावो अमभूत भद्रमभक्तसौदम गोष्ठे रणवन्दस्मे ।

प्रजावनी पुररपा इह स्मृतिदाय पूर्वोध्यमा कुहाना ।

ऋ० ६-२८-१

गौरे हमार गृह आवे हमार मग मयन करें। व हमार गोष्ठ (गागाग) म विराजे। हम जलन दें। व प्रजावनी ग। विविध सुन्दरवावागी गाये जग वात म इन्द्र क गिग दुग्ग प्रानन करें।

अपि इस जगगी पगु का पूजा अवा करव ही वक्तव्य समान नहा कर दता वरन् उसक गुणगुण जीवन की भा व्यग्रम्या करना है—

प्रजावनी भूववम रिगता गृद्धा अप सुप्रपाणो पिवन्तो ।

मा व स्तेन ईगत मावगस परि वा हनी रुस्यवग्या ।

ऋ० ६-२८-३

ह प्रजावनी गौजा। तुम गामन जी (नृ) का भरण करा। सुन्दर प्रशानक (गगागा) म निमज जल पिना। तुम्हें तम्बर वष्ट न पहुँचाय, हिनक पगु आधनग न कर। चाट पट्टेचानगा आकुष तुम्हें स्पष्ट न करें।

गो को अदिति (आन्तिया की माता) स्वप्न मानकर उसे अधया (अवध्य) कहा गया है।

गा मा हिंसीरदिति विराजम्—अन्ति रूप गौ की हिंसा मन करो। गोघातक प्राणदण्ड का भागी होता था।

उपयागिता वेग और दक्षनीयता की दृष्टि से अश्व का जो उत्पन्न हुआ था, वह भी विविध और विस्मयजनक है। वह त्वरा और ओज का ही प्रतीक नहीं है, बरन प्रवृत्ति के रौद्र चञ्चल और गान्त समयमित दाना रूपा का वाहक है। पक्ता को कम्पित करने वाले सरता के वाहन भी अश्व हैं और उषा सूर्य आदि को ऋत-भाग में लाने वाले रथ के वाहक भी अश्व हैं। उनके चित्र वण उनके जाज, उनके हिरण्यमय साज और विद्युत् जसी दीप्ता कलाभा के वणन स्पष्ट और काव्यात्मक हैं।

प्रमत्त स्पष्ट प्रवृत्ति चित्रा का स्थान ऐसे भावचित्र ले लेते हैं जिनमें सूक्ष्म सौन्दर्यगोध के साथ किसी शाश्वत अलक्ष्य ऋत का भी सवेत प्राप्त होन लगता है।

एषा दिवो बुहिता प्रत्यर्वाणि
ज्योतिषसाना समना पुरस्तात्।
ऋतस्य पचामवति साधु प्रजानतीव
न दिशो मिनति।
ऋक० १-१२४-३

यह आगामी की पुत्री, आलोकवसना उषा प्रत्यक्ष उदित हुई। यह ऋत (नियम) का अनुसरण करती हुई सज दिग्गजा का गान रखती है (जो वह अधिकाराच्छन्न नहीं रहन देता)।

व्यक्तिगत रागा मन सम्बन्ध के परिचायक धरणसूक्त हैं जिनमें आगामी युग में विराम पानवाले रहस्यवाच के अद्भुत रूप हैं—

धवत्यानि नो सत्या बभूवुः सचायहे यदेषक पुराजितः।
धरन्त मान धरण स्वधावः सहस्रद्वार जगमा गृहते॥
ऋक० ७८८५

हे धरण योग्य ! हमारा वह पुराजित मर्य कया हुआ ? पूरकाल में जो हमारी मित्रता हुई थी, हम उषा का निवाह करें। हे महान् स्वामी ! तुम्हारे सहस्रा द्वार वाते गृह में मैं आऊंगा।

प्रकृति की जिस विविधता में उन्हें अनेक देवा का बोध हुआ था, उसी में उन्होंने एवम् की अनुभूति प्राप्त की

पुरुष एवेद सर्वं यदभून् यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वमेतानो मदग्नेनातिराहति ॥
ऋक्० १० १० २

यह सत्र कुछ वह पुरुष ही है-य जा भूत (उत्पन्न हो चुके हैं) और जो हान वाला है। वह अमृत का स्वामी और अन्न से सर्वोपरि है।

प्रकृति के उग्र रूप के प्रति भी उनके रागात्मिका वृत्ति केवल मय की नहीं थी, क्योंकि उस स्थिति में मानव केवल अधविश्वास के अधकार का वन्दी हो जाता है। उग्र रूद्र रूप में सौन्दर्य और शिवत्व की अनुभूति केवल भीति या आतंक से सम्भव नहीं है।

रुद्र जस उग्रता के प्रतीक देवता की कल्पना का शिव और शंकर में पयवसान यही प्रमाणित करता है कि वैदिक मनीषा का प्रलय में भी सौन्दर्य की स्थिति का बोध था।

दिवो बराह्मण्य कपर्दिन त्वेय रूप नमस्तानिह्वामह ।
हस्ते विभ्रद् भेषजा वार्याणि गम वम छत्रिस्त्वम्य वसत ॥

ऋक्० १-११४-५

हम आकाश के घोर रूप वाले, पिगल जटाधारी महान् तजामय रुद्र का नमस्कार पूर्वक आह्वान करते हैं। वे धरणीय भेषज हाथ में लेकर हमें सुखी करें। अपने रणा-वस्त्र से हम निमग्न करें।

इसी प्रकार मरुता के रौद्र वगैरे भी ऋषि परिचित हैं—

को वो वीर्यिष्ठ आ मरी दिवश्चाम्भ धृतय ।
मत्सोमन्त न धृतय ।

नि वो मामाय मानुषा दध्न उग्राय मयवे ।

जिहोत पवता गिरि ।

ऋक्० १-३७-६, ७

आकाश पृथ्वी का कम्पित करनेवाला मरुता तुम में श्रेष्ठ कौन है? तुम वृक्ष की शान्ताता के समान शिवाता (पयता) का सन्धार दन हो।

परन्तु इस उग्रता के लिए भी ऋषि का शुभकामना दृष्ट्य है—

स्थिरा च सत नेमयो रया अन्वाप्त एषाम सुसंस्कृता अभीशव ।

ऋक० १-३८-१२

हम रत गण ! तुम्हारे रथचक्रों की नभि और घुरी दढ़ हा तुम्हारी बल्ला स्थिर हा । तुम्हारे अस्त्र सयत रह ।

ये विविध रागा मरु अनुभूतियाँ त्रमश ब्रि को उस तत्त्वगत जिज्ञासा की आरंभ जाती हैं जिससे उपनिषद् काल की उदात्त चिंतन पद्धति ही नहीं भारतीय दर्शन की विविध शाखा आविष्कृत होती रही है—

नासनीय मूकन उन्नात्त तत्त्व चिंतन को जन्म देनेवाली जिज्ञासा का ऐसा रूप है जो अपनी चिरन्तनता में भी धिर नवीन रहता रहा है—

नासदासीनो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो धत ।

विमावरीष कुहृक्ष्यममन्नम् विमासीद गहन गभीरम् ।

ऋक० १० १२९ १

उस समय (सृष्टि के आरम्भ में) न सन् था न असत् था । पृथ्वी भी नहीं थी आकाश और आकाश से परे परम व्योम भी नहीं था । आवरण से कौन आच्छन्न था जिसका वहाँ स्थान था ? क्या उस समय अगाध गम्भीर जल ही जल था ?

इय विसृज्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न ।

यो जस्याध्यस्य परमे योमत्तो अग वेद यदि वा न वेद ॥

ऋक० १० १२९ ७

यह अनेक प्रकार की सृष्टि वहाँ से उत्पन्न हुई ? किसने सृष्टि रचना की और किसने नहीं की यह सब वही जानते होंगे जो हमके स्वामी और परम व्योम में स्थिति रखते हैं । हो सक्ता है व भी न जानन हा ।

इन समस्याओं के समाधान की शिखा में जो अमम्य अवेपण हुए उनका अङ्कुर भी उन्हीं जिज्ञासुओं के मनोव्यक्त में पहल अङ्कुरित हुआ ।—

कामस्तदग्रे समदत्ताधिमानसो रेत प्रथम धदासीन ।

सतो यधुमसति निरविचन हृदि प्रनोप्या कवयो मनोया ॥

ऋक० १० १२९ ४

मवप्रथम उसका मन में काम (चिन्ता) उत्पन्न हुआ । उसी से मवप्रथम सृष्टि का उत्पत्ति-कारण (वाज) निरग्न । कवि मनोपिया न अपन अन्त-करण में विचार करके बुद्धि द्वारा या अविद्यमान वस्तु थी उग विद्यमान वस्तु का उत्पत्ति-कारण माना ।

साहित्य यदि ससृष्टि का अन्तर्गत वस्तु है तो जीवन-दर्शन का उसका धरनी की गहनता में छिपा मूल कहा जा सकता है। ऐसी किसी ससृष्टि की कल्पना कठिन है, जिसे किसी विशेष जीवन-दर्शन व अविच्छिन्न गति और सनातन आयु का वरदान या सही हो।

भारतीय चिन्तन की पद्धति का भारत में प्राकृतिक परिवेश की कितनी शृणो हैं, यह उनके सतत अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति के भिन्न और कभी कभी परस्पर विपरीत रूपा में जिस प्रकार मानव जन्तुकरण में अनेक दृष्टान्तों की उद्भावना, स्वाभाविक रूप से ही उसी प्रकार उन विभिन्न रूपा में स्पन्दित जीवन में, भिन्न-भेद-प्रत्यय वाले क्षणों के समान सबमें एकत्व का बाध भी जनिवाय कर दिया। सब गति-वद-ब्रह्म-यह सब कुछ ब्रह्म है और 'एक सद विद्या जुहुया वदन्ति - उम एक का विद्वान् अनेक नामा से पुकारत है मानो एक ही चित्र के दो ओर हैं।

भारत की प्रकृति अजस्र वरदानमयी है, अतः उसमें वास्तव्य की छाया में मानव-हृदय को जीवन में ही नहीं प्रकृति के भी सब रूप आत्मीय और सहजान जान पड़े। ऋग्वेद में गीता तक पहुँच कर, फिर निगुण-सगुण भावधारणा में अनन्तता पान वाले सबवाद या सवात्मवाद की कथा, जीवन के कितने लक्ष्य अलक्ष्य तटों को छू जाई है यह बनाने की आवश्यकता नहीं है।

वस्तुतः दर्शन यदि अखण्ड चेतना के चिर एकाकीपन की एकरस कथा है तो सान्ध्य दर्शन निर्विकार पुरष और चिर परिवर्तनशील प्रकृति का मधुर द्वन्द्वगीत है।

काव्य में जो तत्त्व सौन्दर्य की सीमा में बंध गया है वही दर्शन में सत्य के रूप में मुक्त हो सका है और पुनः वही नतिव धरातल पर सिद्ध की परिभाषा में अवतरित हुआ है।

भारतीय ससृष्टि निविधतामयी है, क्योंकि भारतवर्ष प्रकृति अनन्तरूपा है। वह सम-वयवादिनी है, क्योंकि प्रकृति सबको स्वीकृति देता है। किसी एक विचार, एक भावना और एक धारणा की सीमा उसके लिए बन्धन है, क्योंकि वह असंख्य नदिया-नद्याता का अपन में भुवि दनेवाला समुद्र है।

अपन विविध प्राकृतिक परिवेश में किसी मानव-समूह के कालमिद्व आत्मीय तथा रागात्मक सम्बन्ध का गहन-परत स्वीकृति ही उसकी राष्ट्रीयता की सना या लेनी है।

राष्ट्र गीत में हम अपने देशांगन पूजना में प्राप्त हुआ है और उसका सना के साथ जो प्राकृतिक परिवेश और उसमें अन्तर्निहित गन्तव्य भावना है वही हमारा परम्परागत उत्तराधिकार मानी जायगा।

राष्ट्र भावना का देश विशेष में वही स्थान रहता है जो भिन्न अवयव वाले

गरोर में चेननावेन्द्र का होता है। पाव के नीचे आ जान वाले अगारे की जगह या पूर का स्पश-पुलक दाना का अनुभूतिया जस भस्तिप्न का चेतनावेन्द्र सार गरीर में पहुँचा देता है, एक अग का पीडा या पुनक को सम्पूर्ण शरीर की बता देता है उसी प्रकार राष्ट्रीयता प्रत्येक सुख-दुःखात्मक स्थिति को विशेष भूमिगण्ड की मानवसमष्टि में व्यापकता दे देती है।

सामाज्य विरुद्धभावना या निरुद्धमानवता से उसका विरोध सम्भव नहीं है, क्योंकि ये विभिन्नतायें उसी एकता से उत्पन्न और तत्त्वतः एक है। नदिया का समुद्र से विरोध सम्भव नहीं क्योंकि उनका सामाज्य गन्तव्य वहाँ है। समुद्र में बाद गदी तटा के साथ प्रवेश नहीं करती परन्तु समुद्र तक पहुँचाने के साधन रूप में वह तटा का साथ लाती है।

भारतराष्ट्र का नाम भारतभूमि उसका निवासी और उनकी सत्त्वृति तो अतः निश्चित है ही, उनके सना से यह विश्व की राष्ट्रसमष्टि में अपनी स्थिति का बाध भी करते हैं और दूसरा का अपना परिचय भी देते हैं।

राष्ट्र के समान स्वराज्य गल भी प्राचीन है। वन्कि मनीषा का स्वराज्य ही नहीं साम्राज्य महाराज्य पारमष्ठिराज्य आदि जाठ नामन-तना का बाध था परन्तु उनकी अपनी प्रिय शासन-पद्धति गण-तांत्रिक और स्वराज्यमयी थी जिसमें व्यक्ति समष्टि का समर्पण रहता था। इसी से ऋषि कहता है—

आ त्वाहायमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठा विधाधलि ।

विगस्त्या सर्वा बाह्यतु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत ॥

ऋक० १० १७३ १

तुम्हें राष्ट्रपति बनाया। तुम इस गेग में अटल अविचल स्थिर रहो। विग (जन) तुम्हें चाह। तुम्हारे राष्ट्र का ह्रास न हो।

विग (जन) में भी सबकी एकान्त अभिगपा थी

व्यधिष्ठ बहुपाय्ये धतेमहि स्वराज्ये ।

ऋक० ५ ६६ ६

यहमन में रीति इस अपने विस्तृत स्वराज्य के हित के लिए हम यत्न करें।

अहमस्मि सहमान उत्तरोनाम भूम्याम ।

अभीषास्मि निन्वापाडागामागा विपासहि ॥

अपय० १२ १ ५४

अपना भूमि क लिए और उसका दुःख दूर करने के लिए मैं मनु प्रकार के कष्टों का वरण करना हूँ—वे कष्ट चाह जिस लिंगा म आवें और चाह जिस समय आवें।

उनके स्वराज्य म समिति (बड़ी सभा) और मन्त्रा (छोटी सभा) का विशेष महत्त्व है। राष्ट्रपति या गणपति का निर्वाचन पुनर्निर्वाचन ता समिति करती होती था, आवश्यकता हान पर उसे पञ्च्युत भी करती था।

शत्रुओं के हमलों मन्त्रों के माया-मूक्त तथा सजान या एकमयमूक्त भी विशेषता रखते हैं। एक म सादक वाणी और उम्ह द्वारा प्रथित ज्ञान की ऐसी ध्याना ह जा चिर नवीन रहता।

अमरान्तः कण्ठस्तः सखायो मनोमयेष्वसमा समुच्चः।

आदत्तास्त उपकृतास्त उच्ये हृदा इव स्नात्वा उच्ये ददुर्धरे ॥

ऋक० १०-७१

जिनका पाम (मत्स्य परागण क लिए) दृष्टि हाना है (ज्ञान का वात सुनने क लिए) धवण होने हैं ऐन (समान ज्ञानी) मन्त्रा मन्त्राभावों का व्यक्त करने म असाधारण हान हैं। ज्ञान का दृष्टि म इनम बाद मूल तक उल से पूष पुष्कर म समान है, कोई कटि तक जलवाले मगवर जम हैं और बाद स्नान क उपरुक्त जलपुक्त गभीर हद हैं।

समनुमिब तितउजा पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचयन्तः।

ऋक० १०-७१ २

बुद्धिमान जन माया का बुद्धिबल से बस ही परिष्कृत करते गन् हैं जस सकु (मत्सू) चलनी से छान छान कर परिष्कृत किया जाता है।

सजान मूक्त म मतभेदा को स्वाकृति दन हुए भी एक निगम क लिए आवश्यक जिस एकता का कामना की गई है, उस पर किसी भी राष्ट्र को प्रगति निर्भर रहती है।

समानो व आकृति समाना हृदयानि व।

समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहामति ॥

ऋक० १० १९१-४

तुम्हारा कम (बच्यप्रमाय) समान हो। तुम्हारे हृदय और मन भी समान हो। तुम एक मति वाद होकर सब प्रकार से सुसंगठित होओ।

प्रस्तुत सग्रह के विषय में

हमारे राष्ट्र के उन्नत क्षुभ्र मस्तक हिमालय पर जब सघन की नील-साहित आगनय घटाय छा गई तब देग के चेतनात्रेड्र न आमन सकट का ताब्रानुभूति देग के कान कान म पहुचा दी।

धरती की आत्मा के गिल्पी होने के कारण साहित्यकारा और चिन्तका पर विरोध दायित्व आ जाना स्वाभाविक हो था। इतिहास न अनक बार प्रमाणित किया है कि जा मानव समूह अपनी धरती स जिस सामा तब तात्मात्म्य कर सवा है, वह उसी सीमा तब अपनी धरती पर अपराजय रहा है।

इम तादात्म्य के अनन साधना म विशिष्ट साहित्य हैं। विसा भूमिखण्ड पर विम मानव-समूह का सहजान अधिकार है इसे जानन का पूणतम प्रमाण उसका साहित्य ही है। विरोधन धरता से संस्कारगत आत्मायता बिना हुण नवि उमके वन नदा पवत आनि क सम्बन्ध म गाना नहा। वह मसार भर की प्रकृति क सौन्दय पर मुग्ध हा सजता है उस छन्द का परिधान द सजता है, किन्तु संस्कारगत साहचय क अभाव म उस अपन व्यक्तित्व का जग नहा बना पाता। माता जस जय क मुत्तर बालक पर मुग्ध हा सजती है परन्तु जा प्रामीयता वह अपन असत्तर बालक के लिए अनुभव करता है उस वह जय क मुत्तर बालक का नहीं म पाता।

जगमगान स्थच्छ नगर म रहन वाले भा अपन धूमिल मलिन ग्राम क विरह म निम्र हाने हैं। गुलाब क उद्यान और जगूर की बला क बीच बैठनर भा मनुष्य का अपन ग्रामाण घर के द्वार पर लगे सीम कतीला का स्मरण हा जाता है।

आधुनिकयुग क साहित्यकार को भी अपन रागात्मक उत्तराधिकार का बाध था।

इसा से हिमाग्य क आसन्न सकट न उसकी रचना का जोज क गम ओर आम्बा की बगल के स्वर द दिय हैं।

भरे विचार म तात्कात्रिक समस्याआ क मूल म यनि सनातन मूल्या का धरता न हा ता क पूनादन क स्वर क पून हा जानी है जिनम विनाम त्रम का निरन्तरता सम्भव नय रानी।

प्रमत्तुन सग्रह म मैं नारतीय मानस क प्रगान दणा की रागभूमि का जार

सकत किया है। उस तात्कालिक सीमा मधुरन का लम्प न हान पर भी, उसम तात्कालिक मनोरामा का स्थिति भी स्वाभाविक रहगी। एव पूना की धाली अनका पूजायिया के विविध रंग मधु-मय गाल फूल अमन चन्दन सँभाल लेती है।

सग्रह का प्रकाश म आन के लिए अनेक अमुषियाआ के बीच से माग बनाना पडा है अतः यह स्वाभाविक है कि वह न मरे स्वप्न के अनुरूप हो न दूसरो की आशा के अनुरूप। परन्तु देवता का महत्व, अचना के लघुनम उपकरण को भी महाप्रता दन म समय है।

प्रयाग

— महादेवी

महाशिवरात्रि

स० २०१९

हि
मा
ल
य



ध्रुवा एव च पितरो युगे युगे क्षेमकामास्त
सदसो न युज्जते ।
अजुर्यासो हरिपाचो हृदिब आ
द्यावापृथिवीमनुयुक् ॥

—श्रु० १० १४-१२

युग-युगान्तर से ये सुम्हारे पूवज पवत ध्रुव और अचल सटे हुए हैं। जान पड़ता है इनकी इच्छायें पूरा हो गई हैं और इन्हें कही जाने जान की आवश्यकता नहीं रही। ये अजर और हरीतिमामय वृत्तों से परिपूर्ण हैं और (पत्नियों के) मधुर रव से आकाश-पृथिवी को मुखरित करते रहते हैं।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य
समुद्र रमया महादृ ।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै
देवाय हविषा विधेम ॥

—श्रु० १०-१२१ ४

ये हिमवन्त पवत जिसकी महिमा गाते हैं, जिसने महत्व की घोषणा पृथ्वी (नदी) सहित समुद्र कर रहा है और जिसके सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, ये प्रदिशायें, (उसकी) बाहुवत होकर कर रही हैं, उस देव की हम हविष्य से आराधना करते हैं।

हिमवन्त प्रसवन्ति सिन्धौ समह सगम ।
आपोह महा तद् देवीददन् हृद्घोत भेषजम् ॥

—अथर्व० ६ २४-१

हिमालय से निकलने तथा समुद्र में मिलने वाली सरितायें हम दिव्य ओषधियाँ प्रदान करें।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोरण्य ते पृथिवि
स्योनमस्तु ।

—अथर्व० १२-१११

हे पृथिवी ! तेरे ये पर्वत तेरे हिमावृत अचल, तेरे अरण्य हमारे लिए
सुखकर हैं ।

इमे मे गङ्गे सरस्वति शुतुद्रि स्तोम सचता
परण्या ।

असिकन्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये
शुणुह्या सुपोमया ॥

—ऋक्० १० ७५ ५

हे गंगा, सरस्वती, शतुद्री (सतलज), परणी (रावी), असिकनी (चिनाव)
के साथ मरुद्वृधा (चिनाव और झेलम के बीच की मरुद्वदन नामक सहायक
नदी), वितस्ता (झेलम), सुपोमा (सोहान) तथा आर्जीकीया (ब्यास) तुम
सब मेरी स्तुति में भाग लो और उसे सुनो ।

स्मृत्यार्चन

महर्षीणा भृगुरह गिरामस्यैकमन्तरम् ।
यज्ञाना जपयन्तोऽस्मि स्वावराणा हिमालय ॥

—गीता १०-२४

मैं महर्षियों म भृगु, वापिया म एक अन्तर (आकार) यज्ञ म जप यज्ञ और
स्मिर रहनवाग मे हिमालय हूँ।

हिमवद्विज्ययामंध्य यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेश प्रकीर्तित ॥

—मनुस्मृति, २ २१

हिमालय और विज्य क मध्य जा सरस्वती क पूव और प्रयाग के पश्चिम म
है वही मध्य देश माना गया है।

गङ्गाना हिमवन्त च नदानामय सागरम् ।

—ब्रह्मांड पुराण

पवता म (अधिपति क रूप म) हिमालय की तथा नग म (अधिपति क
रूप म) समुद्र की रचना का गढ़।

यनात्तार्य मया स्रष्टा हिमवानचत्सेवर ।

—विष्णुपुराण

यज्ञ म (देवताओं के साथ) माता तनू के लिए मैंने पवता क अधिपति हिमालय
का मूर्ति का।

आदिपुराण

हिमवान

हिमवानयमुत्तुग सगत सतत श्रिया ।
कुल क्षोणी भृता घुर्यो घत्ते युष्मदनुक्रियाम् ॥

यह हिमवान पर्वत बलि उज्ज्व और श्री समुक्त है। पर्वता में प्रमुख है मानो आपका (जो राजाओं में श्रेष्ठ हैं) अनुकरण कर रहा हो।

चित्रैरलङ्कृता रत्नैरस्य श्रेणी हिरण्यमयी ।
सप्तयोजनमात्रोच्चा टक्छिन्नेव भात्यसौ ॥

इसकी हिरण्यमयी रत्नजटित और सप्तयोजन ऊँची चौड़ी है। ऐसा जान पड़ता है मानो (किसी गिल्ली ने) टाकी से गड़ कर बनाई है।

स्व पूर्वापर कोटिम्या विगाह्य लवणाणवम् ।
स्थितोऽय गिरिराभाति मानदण्डायितो भुव ॥

अपने पूर्व पश्चिम के किनारों से लवण समुद्र में अवगाहन कर स्थित, यह पर्वत ऐसा गोमित हो रहा है मानो पृथ्वी को नापने का मानदण्ड हो।

अस्यानुसानु रम्येय वनराजी विराजते ।
शश्वदध्युपिता सिद्धविद्याधर महोरगं ॥

सिद्ध विद्याधर और नाग जिसमें निरन्तर निवास करते हैं ऐसी वनराजी इसके गिखर प्रान्त में घोमित है।

तटामोगा - विभात्यस्य ज्वलमणि - विचित्रिता ।
चित्रिता इव सन्नान्तै स्ववधूप्रतिविम्बवै ॥

प्रदीप्त मणिया से जटित इसने तट प्रदेश (ढाल) ऐसे घोमित होने हैं मानो उन रत्ना में प्रतिविम्बित स्वर्णवपुषा के प्रतिविम्बों से ही बनावे गए हों।

पर्यन्तस्य वनोद्देशा विकसितकुसुमस्मिता ।

हसन्तीवामरोद्यान - श्रियमात्मीयया श्रिया ॥

फूले हुए फूल म हँसत हुए से इसके चारों ओर के वन प्रदेश ऐसे जान पड़ते हैं मानो अपनी श्री से अमरो के नन्दन वन पर हँस रहे हों।

मूर्ध्नि पद्म - हृदोऽस्यास्ति घृत - श्री बहुवर्णन ।

प्रसन्नवारिरुत्फुल्ल - हृमपकज - मण्डन ॥

इसके मस्तक पर श्री-युक्त पद्म नामक सरोवर है, जो बहुत प्रकार से वर्णित और स्वच्छ जल तथा विक्च स्वर्ण कमलों से घोषित है।

हृदम्यास्थ पुर प्रत्यक्तोरणद्वार - निर्गते ।

गंगासिन्धू महानदी घत्तेऽयं धरणीधर ॥

यह पर्वत पद्मसरोवर के पूर्व दिशा के तोरणद्वार से निकल गया महानदी तथा पश्चिम तारणद्वार से निकली सिन्धु महानदी को भी धारण करता है।

सरित् राहितास्या च दद्यात्येय क्षिलोच्चय ।

तदुदक्तोरणद्वाराणि सृत्योदद्भुम्बी गताम् ॥

पद्मसरोवर के उत्तर तोरणद्वार से निकल कर उत्तर की ओर बहती हुई रोहितास्या नदी को भी यह पर्वत धारण किये हुए है।

महापगामिरित्याभिरुध्याभिर्विभात्ययम् ।

तिसृभि शक्तिभि स्व वा भूभृद्भाव विभावयन् ॥

इन अलक्ष्य तीन महानदियाँ सं यह पर्वत ऐसा सुशोभित है मानो (मन्त्र, उत्साह और प्रभुत्व) तीन शक्तियों से अपने भूभक्त भाव (पृथ्वी का धारण करने की क्षमता) को दिखा रहा है।

—महापुराणान्तर्गत

आदिपुराण

पृष्ठ ३२ (जन साहित्य)

श्री महाशिव पुराण

अस्त्युत्तरस्या दिशि वै गिरीशो हिमवान् महान् ।
 पवतोहि मुनिश्रेष्ठ महातेजास्समृद्धिभाक् ॥१४॥
 द्व रूप्य तस्य विख्यात जङ्गमस्थिर भेदत ।
 वणयामि समासेन तस्य सूक्ष्मस्वरूपकम् ॥१५॥
 पूर्वापरो तोयनिधि सविगाह्य स्थितोहि य ।
 नाना रत्नाकरो रम्यो मानदण्ड इव क्षिते ॥१६॥
 नानावृक्षसमाकीर्णो नाना शृङ्गसुचित्रित ।
 सिंहव्याघ्रादि पशुभिस्सेवितस्सुखिभिस्सदा ॥१७॥
 तुषारनिधिरत्युन्नो नानाश्चयविचित्रित ।
 देवर्षिसिद्धमुनिभिस्सथित शिवसप्रिय ॥१८॥
 तप स्थानाऽति पूतात्मा पावनश्च महात्मा ।
 तपस्सिद्धिप्रदोत्यन्त नाना धात्वाकरश्शुभ ॥१९॥
 स एव दिव्य रूपोहि रम्य सर्वाङ्ग सुन्दर ।
 विष्णुवशोऽविकृत शैलराजराजस्सताम्रिय ॥२०॥

उत्तर दिशा में गिरिया का अधिपति, समृद्धिभाजन, तेजयुक्त, महान हिमवान् पवत स्थित है।

स्थिर और जगम के भेद से उसके दो रूप विख्यात हैं। सन्नेप में उसके सूक्ष्म स्वरूप का वणन करता हूँ।

यह पूव पश्चिम के समुद्रों में अवगाहन कर स्थित, विविध रत्नों का आकर, रम्य और पृथ्वी के मानदण्ड के समान है।

अनेक प्रकार के वृक्षा से आकीर्ण अनेक सिम्बरो से सुचित्रित, सिंह व्याघ्र आदि पशुओं द्वारा सुसंयोजित सवित है।

यह तुषारनिधि उन्न अनेक आश्चर्यों से युक्त देवर्षि सिद्ध मुनियों का आश्रय और शिव का प्रिय है।

यह अति पूतात्मा, तपस्थान पवित्र करने वाला उदात्त जनो के तप के लिए सिद्धिप्रद, विविध धातुओं का आकर और शुभ है।

यह दिव्य रूप रम्य सर्वाङ्ग सुन्दर विष्णु अक्ष की अमिष्यस्ति शैलराजाधि राज और सगजनों को प्रिय है।

—पावती खण्ड ३

मत्स्यपुराण

नगाधिराज

आलोकयन्नदी पुण्यान्तत्समीप हृतश्रम ।

स गच्छतेव ददृशे हिमवन्त महागिरिम् ।

पवित्र हैमवती नदी का अवलोकन कर और उसके सान्निध्य से विगतश्रम होकर चलते चलते मद्राज न महागिरि हिमवान को देखा ।

गमुल्लिखिद्गुह्यं भुवि तु पाण्डुरं ।

पक्षिणामपि सञ्चारं विना सिद्धगतिं शुभम् ॥

वह आकाश को छूते हुए से आपीत धवलिम शृंगा से युक्त (उत्तुगता के कारण) पक्षियों के आवागमन से रहित, सिद्ध जनों द्वारा गम्य और शुभ था ।

नदीप्रवाहसञ्जातमहाशब्दं समन्ततः ।

असंशुता यशब्दन्तं शीततोयं मनोरमम् ॥

चतुर्दिक् नदिया के प्रवाह से उत्पन्न महाशब्द (बलकल ध्वनि) के कारण वहा अय शब्द नहीं सुने जात थे और वह शीतल जल से युक्त तथा मनोरम था ।

देवदारुवनैर्नैलैः कृताघोवसनं शुभम् ।

मेघोत्तरीयकं शैलं ददृशे स नराधिप ॥

गहन हरीतिमामय देवदारु के वन जिसका शुभ अघोवस्त्र थे और मेघ जिमका उत्तरीय वन गए थे, ऐसे पर्वत को राजा ने देखा ।

श्वेतं मेघकृनोष्णीपं चन्द्रार्कमुकुटं क्वचित् ।

हिमानुलिप्तसर्वाङ्गं क्वचिद्वातुविमिश्रितम् ॥

उज्ज्वल मेघ उसका उष्णीप (पगड़ी) और चन्द्र और सूर्य मुकुट जान पड़ते थे । उसका सर्वांग हिम से अनुलिप्त और वहाँ कहीं गरिक आदि धातुओं से शक्लित था ।

चन्दनेनानुलिप्ताङ्गं दत्तपचाद्गुलं यथा ।
 शीतप्रदं निदाघेऽपि शिलाविवटसकटम् ।
 सालक्तकैरप्सरसा मुद्रितं चरणैः क्वचित् ॥

चन्दनानुलिप्त उसका अंग पचागुल के चिह्नो से चिह्नित सा था। वह महाशय ग्रीष्मकाल में शीतप्रद, विवट शिलासमूहा से सकुल और कही कही अप्सराओं के अलक्तक प्रसाधित चरण चिह्ना से मुद्रित सा था।

क्वचित्संपृष्टसूर्यांशुः क्वचिच्च तमसावृतम् ।
 दरीमुखं क्वचिद्भीमं पिवन्तं सलिलं महत् ॥

उसका कुछ भाग सूर्य की किरणों से प्रकाशित और कुछ भाग अंधकार से आच्छन्न था। कहीं कहीं वह अपने चन्द्रा रूपी भीमाकार मुख से (प्रवाहित होती) जलराशि को पी सा रहा था।

निरुद्धपवनैर्दशैर्नील - शार्दूल - मण्डितैः ।
 क्वचिच्च कुसुमैर्युक्तमत्यन्तरुचिरं शुभम् ॥

वह महाशय कहीं कहीं वायु संचार से ध्रुव नीली (गहरी हस्ति) घासयुक्त प्रान्तरों और कहीं कहीं (विविध रंगों वाले) फूलों के कारण अत्यन्त रमणीय जान पड़ता था।

समालब्धजलैः शृंगैः क्वचिच्चापि समुच्छ्रितैः ।
 नित्यवृत्तापविषमरगम्यमनसा युतम् ॥

उसके कितने ही शिखर प्रपातयुक्त हैं। कितने ही अपनी उत्सुगता के कारण मन से भी दुःखरोग और सूय के ताप के कारण सबथा विषम (अगम्य) हैं।

देवदारु - महावृक्ष - व्रज - शाखा - निरन्तरैः ।
 वशास्तम्बवनाकारं प्रदेशैरुपशोभितम् ॥

उसके कुछ भाग देवदारु के विनाल वृक्षों की शाखाओं की विपुलता के कारण निविड सपन हैं और कुछ भाग वासों के स्तम्भाकार वनों से आच्छन्न हैं।

हिमच्छत्रमहाशृंग
सद्वदलम्याम्बुविषम

प्रपातशतनिर्यंरम् ।
हिमसरद्वक् दरम् ॥

उसके महाशृंग हिम से आच्छादित हैं और उससे सकड़ो निम्नतर झर रहे हैं ।
उसकी गुफायें हिमरुद्ध हैं और वना की सघनता के कारण (निम्नतर की) ध्वनि
मात्र से जल की स्थिति का अनुमान होता है ।

अहीनशरण

नित्यमहीनजनसेवितम् ।

अहीन पश्यति

गिरिमहीन

रत्नसम्पदा ॥

सतत विचाल शरणस्थल, उदात्त जना से सेवित, रत्नसम्पत्ति भ्रष्ट इस
महान पर्वत का, कोई महान जन ही दशन पाता है ।

अध्याय, ११६

शैलेद्रो हिमवानाम धातूनामाकरो महान् ।
तस्य कन्याद्वयं जातं रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥१॥

या मेरुदुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा ।
नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवत प्रिया ॥२॥

तस्या गङ्गायमभवज्ज्येष्ठा हिमवत सुता ।
उमा नाम द्वितीयाभूत्कन्या तस्यैव राघव ॥३॥

अयं ज्येष्ठा सुरा सर्वे देवताश्चिकीपया ।
शैलेद्रं वरयामासुगङ्गा त्रिपथगा नदीम् ॥४॥

ददौ धर्मेण हिमवास्तनया लोकपावनीम् ।
स्वच्छन्दं पथगा गङ्गा त्रैलोक्यहितकाम्यया ॥५॥

या चाया शैलदुहिता कन्याऽऽसीद्वधुनदन ।
उग्रं सा व्रतमास्थाय तपस्तेपे तपोधना ॥६॥

उग्रेण तपसायुक्ता ददौ शैलवरं सुताम् ।
रुद्रायाप्रतिरूपाय उमा लोकनमस्कृताम् ॥७॥

संपा सुरनदी रम्या शैलेद्रस्यसुता तदा ।
सुरलोकं समाह्वा विपापा जलवाहिनी ॥८॥

धातुआ की खान और चलो में इन्द्र, महान हिमालय के दो कन्याएँ हुई, जा पृथ्वी पर अवतित थी।

ह राम ! इन कन्याआ की माता मेरुपर्वत का सुखी पुत्री और हिमवान की मनोज प्रिय पत्नी, मेना है।

हिमालय की ज्येष्ठ कन्या गया है और उत्तका द्वितीय पुत्री का नाम उमा पहा।

हिमालय की ज्येष्ठ पुत्री त्रिपयगा गया का सब देवता मिल कर अपनी कायसिद्धि के लिए माँ कर ले गए।

हिमवान ने लोक का पवित्र करनेवाली और स्वच्छन्द गतिगाला गया का त्रैलोक्य-कन्याएँ के लिए, अपना धर्म समर्पण कर दे दिया।

ह रघुनन्दन ! हिमाचल की द्वितीय पुत्री तपावती उमा ने उम्र तप किया।

कठिन तप करनेवाला लोकवर्द्धिता कन्या उमा का शलघ्रेष्ठ हिमाचल ने रुद्र (महादेव) को जो अवतित (उपयुक्त वर) थे, विवाह में दे दिया।

गलेन्द्र की पुत्री रम्य, पुण्यसलिलवाहिनी देवता का जानेवाली यही देवन्दरा गया है।

ततो हैमवती ज्येष्ठा सर्वलोकनमस्कृता ।
तदा सरिन्महद्रूप कृत्वा वेग च दुसहम् ॥
आकाशादपतद्राम शिवे शिवशिरस्युत ।
अचितयच्च सा देवी गङ्गा परम दुधरा ॥
विशाम्यह हि पाताल स्रोतसा गृह्य शकरम् ।
तस्यावलेपन ज्ञात्वा क्रुद्धस्तु भगवान्हर ॥
तिरोभावयितु बुद्धि चक्रे त्रिनयनस्तदा ।
सा तस्मिपतिता पुण्या पुण्ये रुद्रस्य मूधनि ॥
हिमवत्प्रतिमे राम जटामण्डल - गह्वरे ।
सा कथञ्चि मही गन्तु नाशकनोद्यत्नमास्थिता ॥

विससज ततो गङ्गा हरो विदुसर प्रति ।
तस्या विसृज्यमानाया सप्त स्रोतासि जज्ञिरे ॥
ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथाऽपरा ।
तिल प्राची दिश जग्मुगङ्गा शिवजला शुभा ॥
सुचक्षुश्चैव। स्रोताच सिधुश्चैव महानदी ।
तिलस्त्वेता दिश जग्मु प्रतीची तु शुभोदक ॥
सप्तमी चावगात्तासा भगीरथमथो नृपम् ।
भगीरथोऽपि राजपिदिव्य स्पन्दनमास्थित ॥
व्यसपत जल तत्र तीव्रशब्दपुरस्कृतम् ।
मत्स्य - कच्छपसंघेश्च शिशुमारगणस्तथा ॥
शतादित्यमिवाभाति गगन गततोयदम् ।
शिशुमारोरगगणमनैरपि न चञ्चलं ॥
विद्युद्भिरिव विक्षिप्तमाकाशमभवत्तदा ।
पाण्डुरं सलिलोत्पीडं कीयमाणं सहस्रधा ॥
शारदाभ्ररिवाकीण गगन हससप्लवं ।
क्वचिद् द्रुततर याति कुटिल क्वचिदायतम् ॥
विनत क्वचिदुद्धत क्वचिद्याति शनै शनै ।
सलिलेनैव सलिल क्वचिदम्याहृत पुन ॥
मुहुर्लक्ष्मपथ गत्वा पथात् वसुधातलम् ।
व्यरोचत तदा तोय निमल गतवल्मपम् ॥

तब सबलोजवन्दिता ज्येष्ठा हैमवती गंगा महद्रूप धारण कर दु सह वेग के साथ आकाश से शिव के मस्तक पर गिरी। गिरते समय परम दुधर देवी गंगा ने सोचा कि

मैं अपने प्रवाह के साथ बहा कर शिव को पाताल ले जाऊँगी। गंगा के गर्व को जान कर भगवान् शिव क्रुद्ध हुए और उन्हें अपनी जटा में ही तिरोहित करने का विचार किया।

हिमाचल के समान शिव के पवित्र मस्तक की जटामण्डल रूपी गुफा में धुष्यताया गंगा गिरीं और अनन्त प्रयत्न करने पर भी जटाजूट से निकल कर पृथ्वी पर न जा सकीं।

तब शिव ने गंगा का हिमालय स्थित विन्दुसर में छाड़ा। छाड़ते ही गंगा की सात धारायें हो गईं।

ह्लादिनी पावनी और नलनी गंगा की ये तीन कल्याणकारिणी धारायें उत्तम सर से पूर की ओर बही। गंगा के शुभ जल की मुखरु, सीता और सिंधु नामक धारायें पश्चिम की ओर बहा।

सातवीं धारा दिव्य रमास्वयं राजपि भगीरथ के रथ का अनुसरण करने लगी।

सीत्र शष्प करता हुआ और अपने प्रवाह में मत्स्य, वच्छप शिशुमार (मूसा) आदि को बहाता हुआ गंगा का जल वन से पृथ्वी पर (आकाश से) गिर कर प्रवाहित हुआ।

निमल मेघदूय आकाश ऐसा क्षामित हो रहा था मानो उसमें सैकड़ मूय उड़ित हो गए हों। बीच बीच में चंचल मत्स्य उग्य शिशुमार आदि जल जीवा के झुंड जा

जल के वेग से ऊपर उछल जाते थे, ऐसे जान पड़ते थे मानो आकाश में बिजली चमक रही हो। जल में उठे हुए श्वेत फेन जो इधर उधर सहस्रधा छिनरा गए थे, ऐसे जान पड़ते थे मानो हवा के झुंड से मुक्त शरद्वालान् मेघ आकाश को क्षामित कर रहे हैं।

गंगा का जल कहीं द्रुतगति से, कहीं कुटिल गति से, कहीं फन कर, कहीं निम्न, कहीं उछलता हुआ और कहीं धीरे धीरे बह रहा था। कहीं जल जल से ही टकरा कर बार बार ऊपर उछलता और फिर पृथ्वी पर गिर पड़ता था। इस प्रकार वह स्वच्छ धुष्य जलराशि क्षामित हो रही थी।

महाभारत से

नगोत्तम

आरिराघयिपुगगा तपसा दग्धकित्विप ।
सोऽपश्यत् नरथ्रेष्ठ हिमवन्त नगोत्तमम् ॥

हे नरथ्रेष्ठ ! तप द्वारा विगतपाप होकर गंगा की आराधना की इच्छा से उसने पवता में उत्तम हिमालय को देखा ।

शृगैर्बहुविधाकारं धातुमदिभ्रलकृतम् ।
पवनालम्बिभिर्मघैः परिपिक्त समन्तत ।

वह पवत धातुआ से युक्त विविध आकारवाले शृंगा से अलकृत और पवन से चंचल मेघों से सब ओर से परिपिक्त (भीगा हुआ) था ।

शकुनैश्च विचित्राङ्गं कूजदिर्भविविधागिर ।
भृङ्गराजस्तथा हंस दत्पुहजलकुक्कुटं ॥
मयूरैः शतपत्रैश्च जीवन्जीवककोकिलैः ।
चक्षोररसितापाङ्गं स्तथापुनप्रियैरपि ॥

वह विचित्र अंगवाले विविध ध्वनियों में कलरव करनेवाले पक्षियों में शोभित और भृङ्गराज हंस सारस जलकुक्कुट, मयूर, शतपत्र, कोकिल, चक्षोर असितापाङ्ग और पुत्रप्रिय आदि के शब्दों से मुखरित था ।

जलस्थानेषु रम्येषु पद्मिनीभिश्चसकुलम् ।
सारमाना च मधुरैर्व्याहृतं समलकृतम् ॥

उसके रम्य जलस्थान कमलों से भरे हुए और सारसों के मधुर रव से शोभित थे ।

किन्नरैरप्सरोग्भिश्च निषेवितशिलातलम् ।
दिग्धारण - विपाणाग्रैः समन्ताद् घृष्टपादपा ॥

उसके शिलातल किन्नर और अप्सराओं से सेवित हैं और उसके वृक्ष दिग्गजा व दाता से छिन्न हुए थे ।

क्वचित्त्वाननसकाश क्वचिद्रजतसनिभम् ।
क्वचिदञ्जनपुञ्जाभ हिमवन्तमुपागमत् ॥

जहाँ कहीं वान्ताह-सकुल था, वहाँ चांदी के वण के समान रजतम और वहाँ अञ्जन के समान श्याम दिखाई देता था उस पवत पर वह पहुँचा ।

अवेक्ष्यमाणं कैलाशं मैनाकं चैव पर्वतम् ।
गन्धमादनपादाश्च श्वेतं चापि शिलोच्चयम् ॥
वे कला तथा मनाश्च पवता और गन्धमादन के प्रत्यन्त भागा एव श्वेत
शिलोच्च (श्वेत पर्वत) को

उपर्युपरि शैलस्य वह्नीश्च सरित् शिवा ।
पृष्ठं हिमवतं पुण्यं ययौ सप्तदशेऽहनि ॥
तथा पवन के ऊपर ऊपर बहने वाली बहुत सी कल्याणकर नदिया को देखते
हुए सत्रहवें दिन हिमवान के पवित्र पृष्ठ भाग पर पहुँचे ।
ददंगु पाण्डवा राजन् गन्धमादनमस्तिकात् ।
पृष्ठं हिमवतं पुण्यं नाना द्रुमलतावृतं ॥
हे राजन ! पाण्डवा ने हिमवान के विविध द्रुमलतावृत पुण्य पृष्ठदेश से
गन्धमादन और

सलिलावतसजातं पुष्पितंश्च महीरुहै ।
समावृतं पुण्यतममाश्रमं वृषपवण ॥
जलावत निश्चित पुष्पित बना स घिरे हुए वृषपर्वा के पवित्रतम आश्रम
को देखा ।

नित्यं पुष्पफलैर्वृक्षैः हिमसस्पर्शकोमलैः ।
उपेतान् बहु सच्छायमनोनयननन्दनं ॥
वह हिमवान सख फूलने लगने वाले और हिम के सस्पर्श के कारण कोमल,
मन और नन्ना का आनन्द देनेवाले सुन्दर छायावान बना से युक्त था ।

स सपश्यन् गिरिनदी वंद्यमणिसन्निभे ।
सलिलैर्हिमसकाशं हंसकारण्डवायुतं ॥

हंस-कारण्ड पनिया से शान्ति बंद्य मणि की आभावाले और हिम जल
जल वाला पवनीय नदिया को देखा ।

वनानि देवदारुणा मेघानामिव वागुरा ।
हरिचन्दनमित्याणि तु गालीयकायपि ॥

यहाँ हरिचन्दन तथा ऊँचे ऊँचे अमर वृक्षों से युक्त देवदारु के वन ऐसे लगते
थे मानो मेघा के लिए जाल हों ।

अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज ।
पूर्वापरो तोयनिधीवगाह्य स्थित पृथिव्या इव मानदण्ड ॥१॥

य सव शैला परिकल्प्य वत्स मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महोपधीश्च पृथूपदिष्टा द्रुद्रुधरित्रीम् ॥२॥

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिम न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एकोहि दोषो गुणसनिपाते निमज्जतीदो किरणेष्विवाङ्क ॥३॥

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनाना सपादयित्री शिखरैर्विभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसंघ्यामिव धातुमत्ताम् ॥४॥

आमेखल सचरता घनाना छायामधः सानुगता निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृगाणि यस्यातपवन्ति सिद्धा ॥५॥

पद तुषारस्रुति घौतरक्त यस्मिन्नदृष्ट्वापि हृतद्विषानाम् ।
विदन्ति मार्गं नखरघ्रमुक्तेर्मुक्ताफले केसरिणा विरता ॥६॥

न्यस्तासरा घातुरसेन यत्र भूजत्वच्च कुञ्जरचिन्दुशोभा ।
ग्रजन्ति विद्याधरसुदरीणामनङ्गलैः सक्रिययोपयोगम् ॥७॥

पूव और पश्चिम सागर तक
 भू के मानदण्ड सा विस्तृत,
 उत्तर दिशि में दिव्य हिमालय
 गिरियो का अधिपति है शोभित।

पृथु प्रेरित शैलो ने जिसको
 पृथ्वी-गो का वत्स बनाकर,
 मेर-गोप से दुहा लिया सत्र
 ओपधियो रत्नो का आकर।

रत्नो के आकर हिमगिरि की
 हिम से हुइ न शोभा कुण्डिन,
 किरणो में कलक सा छिपता
 गुण-ममूह में अवगुण किंचित्।

गैरिक पीत धातु-शृंगो से
 वह रंगता घन-खण्डो को जब,
 अप्सरियाँ मण्डन करती हैं
 असमय सध्या के भ्रम से तब।

उन्नत शृंगो की रशना मम
 मेघो की छाया में रह कर,
 जाते, वर्षाभीत सिद्धजन
 आतपमय शिखरो के ऊपर।

गजघाती सिंहा के, जाते
 एक जहा हिमधारा से धुल,
 नख से विसरी गजमुक्ता से
 दिशि-इगित पाता किरात-दल।

गज-शुण्डो पर लाल विदु से
 अकित जिन पर लगते अक्षर,
 विद्याघर - सुंदरिया लिखती
 प्रेम-पत्रिका भोजपत्र पर।

य पूरयकीचकरध्र - भागादरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणा तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥८॥

कपोलकण्डू करिभिविनेतु विघट्टिताना सरलद्रुमाणाम ।
यत्र स्नुतक्षीरतया प्रसूत सानूनि गघ सुरभीकरोति ॥९॥

दिवाकराद्रप्सति यो गुहासु लीन दिवाभीतमिवाधकारम् ।
क्षुब्धेऽपि नून शरण प्रपन्ने ममत्वमुच्चं शिरसा सतीव ॥१०॥

लाङ्गूलविक्षेपविमर्षि - शोभैरितस्ततश्च द्र - मरीचिगौरै ।
यस्याययुक्त गिरिराजशब्द कुवति बालव्यजनैश्चमय ॥११॥

भागीरथीनिझरसीकराणा वोढा मुहु कम्पितदेवदार ।
यद्वायुरविष्टमृगै किरातेरासेव्यते भित्तशिशुष्विष्टबह ॥१२॥

सप्तपिहस्तावचितावशेषाप्यधा विवस्वापरिवतमान ।
पद्मानि यस्याग्रसरोत्हाणि प्रवोचयत्यूध्वमुखैर्मयूखै ॥१३॥

यज्ञान्नयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सार धरित्रीधरणक्षम च ।
प्रजापति कल्पितयज्ञभाग शैलाधिपत्य स्वयमवतिष्ठत् ॥१४॥

—कालिदास

गुहामुखो से उठकर मास्त
 करता वेणु-रन्ध्र सब सस्वर।
 माय दे रहा ज्या गीता का
 गाते जिने तार स्वर कितर।
 जब मस्तक सुजलाते ह गज,
 देवदारु से सघषण - रत,
 उनसे वह कर क्षीर सुरभिमय
 कर देना शिखरा को शोभिन।
 दिवामीन मा आश्रय पाना
 रवि से दूर, गुहा में घननम,
 शरणागत क्षुद्रा को ममता
 देते ह महान, सज्जन सम।
 चलती हैं चमरी गायें भी
 चन्द्रोज्ज्वल पूँछें चचल कर,
 पवतराज नाम को मायक
 करती मानो चमर डुला कर।
 गगा - जल - कण - बाहक भारत
 बहता देवदारु कम्पित कर,
 पहराता मयूर - पक्षो को
 मृगयारत किरात का श्रमहर।
 उच्च सरा से लेने आते
 नित सप्तरपि कमल अचनहित,
 शेष कज - दल जहा खिलाना
 रवि अपनी किरणें कर उन्नत।
 देव यज्ञ - सामग्री का घर
 उसे घरा - धारण में नक्षत्र,
 विधि ने उमे यज्ञभागी कर
 दिया नागाधिप का पद उत्तम।

—अनु० महादेवी

मेघदूत

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिनम्य तास्ताविशेषा-
न्हसद्वार भृगुपतियशोवत्तम यत्कीञ्चरध्रम् ।

गत्वाचोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्यसधे
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथि स्या ।

शृगोच्छायं कुमुदविशदयौ वितत्यस्थित
ख राशीभूत प्रतिदिनमिव यम्बकस्याट्टहास ॥

—कालिदास

हिमालय के आस पास जितने रम्य स्थल हैं, उन सबको देखते हुए तुम उस बीच रास्ते में से उत्तर की ओर जाना जिसमें से होकर हम मानसरोवर की ओर जाते हैं और जिस परशुराम ने (अपने वाणा से वेध कर) अपने यग का माग सा बना दिया है।

वहाँ से ऊँचे उठकर तुम उस कलाश पर्वत पर पहुँच जाओगे, जिसके गिरा की प्रस्य सघिया (जोड़) रावण की भुजाओं से (बलास उठा लेने के कारण) हिल चुकी है, जिसकी स्वच्छ हिमशिलाओं के कारण देवायनायें उसमें (दपण के समान) अपने मुख देखा करती हैं और जिसकी कुमुद पुष्पों के समान उज्ज्वल चादिया आकाश में ऐसे फली हुई हैं, मानो वह दिन प्रतिदिन एक ही होना हुआ गिर का अट्टहास हो।

—सूक्तवेध, ६० ६२

किराताजुनीयम्

हिमालय

तपनमण्डलदीपितमेवत मततर्नशतमोवतमयत ।
हसितभिन्नतमिम्बचय पुर शिवमिवानुगत गजचमणा ॥१॥

यह हिमवान एक ओर सूर्यकिरणा से जालामित और दूसरी ओर सबदा रात्रि के अंधकार से आच्छन्न रहता है। ऐसा जान पड़ता है माना सामने हाम से उज्ज्वल और पष्ठ भाग में गज चर्मावृत होने के कारण श्यामल शिव हो।

भुजगराजसितेन नम श्रिता वनकराजिविराजितसानुना ।
समुदित निचयेन तडित्वती लघयता शरदम्बुदसहतिम् ॥२॥

(इसके) नेत्र नाग के समान श्वेत तथा स्वर्णरेखाओं से संचित, गगन का स्पर्श करते हुए से गिलर, विद्युत् से युक्त शरदकालीन बादलों को लज्जित करते हैं।

मणिमयूखचयाशुकभासुरा सुरवधूपरिभुक्तलतागृहा ।
दधतमुच्चशिलातरगोपुरा पुर इवोदितपुष्पवनाभुव ॥३॥

मह उन नगर-सदृश भू भागा को धारण करता है, जिनमें मुरागनामैं लताकुजा का गृह के समान उपयोग करती हैं जिनकी विंगाल और ऊँची गिलायें पुर-द्वारा के समान हैं जिनमें फूलों के वन ही उद्यान हैं और मणियों की वाप्ति की किरणें ही सुन्दर अंगुव हैं।

अविरतोज्झित वारिविपाण्डुभिर्विरहितरचिरद्युतितेजसा ।
उदति पशमिवारतनि म्वने पथुनितम्वविलम्बिभिरम्बुदं ॥४॥

निरन्तर बरसने रहने के कारण जो मघ पाण्डु वण के हो गए हैं और जिनमें न अथ गजों ख है और न रिद्युत की चमक व हिमालय के उन्नत गिम्बरा के दाना ओर ऐसे लटक रहे हैं मानो पवन के पथ निवृत्त आय हैं।

दधतभाकरिभि करिभि क्षतै समवतारसमैरसमैस्तटे ।
विविध कामहिता महिताम्भम स्फुट सरोजवना जवना नदी ॥५॥

गंगा के अवगाहन से क्षत, अनएव अवतरण मार्गों में वहीं सम और वही विषम तटा वाली, श्लाघनीय जलवाली स्नानादि विविध कामों के लिए उपयोगी और खिले हुए कमल वाली वेंगवता नदिया को हिमवान धारण किये हुए है।

नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषा द्युतिमता निवरेण महाश्मनाम् ।
विहितसाध्यमयूखमिव नवचित्रिचितकाञ्चनभित्तिषु सानुषु ॥६॥

नव विकसित जपा (गुडह) पुष्पा की सी आभावाली पद्मराग मणियों के दीप्तिमान समूह के कारण हिमालय के सौवर्ण गिला सघटित गिलहर ऐसे शोभित होते हैं मानो उन पर सभ्या आविभूत हो गई हो।

पृथुकदम्बकदम्बकराजित श्रयितमालतमालवनाकुलम् ।
लघु तुपारतुपारजलद्व्युत धृतमदानसदाननदन्तिनम् ॥७॥

बड़े बड़े नीले कुमुदा के बना मे, मधन पक्ति वाते समाल वृक्षों से, तुपार जल चीकरा के वपण से तथा मदलाबी सुन्दर हाथिया से शोभित हो रहा है।

रहितरत्नचयान शिलोच्चयानपलतामवना न दरी मुख ।
विपुलिनाम्बुरुहा न सरिद्धधूरकुसुमादधत न महीरुह ॥८॥

हिमालय के गिलासमूह रत्ना से नूय नहीं हैं, उसके गुहा प्रदेश लतागुहों से रहित नहीं हैं, उसकी नलिया के तट कमल नूय नहीं हैं और उसके वृक्ष और वनस्पतिया पुष्पभार रहित नहीं हैं।

ग्रहविमानगणानभितो दिव ज्वलयत्तीपघिजेन कृशानुना ।
मुहुरनुस्मरवन्तमनुक्षप त्रिपुरदाहमुमापति सेविन ॥९॥

आकाश में चतुर्दिक ग्रहों और देवयाना का दीपित करती हुई, औषधियों से उद्भूत अग्नि द्वारा मानो हिमालय शिवगणा को प्रतिरात्रि त्रिपुर दाह का स्मरण कराता है।

विततशीकरराशिभिश्छितैरुपलरोधविर्वर्तिभिरम्बुभि ।
दधतमुन्नत सानु समुद्धता धृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम् ॥१०॥

हिमालय के उन्नत शिखरों से उद्भूत गंगा शिलाखण्डों पर दब होकर ऊँचे उठती और चलती हुई शीकरराशि के कारण ऐसी शोभित होती है, मानो वह श्वेत चामर लिए हुए हो।

—भारवि

हिमवान

जब तें उभा शैल गृह आइ ।
सकल सिद्धि सम्पति तेंह छाई ॥
जहें तहें मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हें ।
उचित वास हिम भूधर दीन्हें ॥

सदा सुमन फल सहित सब द्रुम नव नाना जाति ।
प्रगटी सुन्दर शैल पर मनि आकर बहु भाति ।

सरिता सब पुनीत जल बहहो ।
सग मृग मधुप सुखी सब रहहो ।
सहज बयल मन्त्र जीवन्ह त्यागा ।
गिरि पर सकल करहि अनुरागा ॥

निज कर डामि नागरिपु छाला ।
बैठे सहजहि शम्भु कृपाला ॥
शुन्द इन्दु सम गौर शरीरा ।
भुज प्रलम्ब परिधन मुनि चीरा ॥
तरन अरुन अबुज सम चरना ।
नख दुति भगत हृदय तम हरना ॥
भुजग मूर्ति भूषण निपुरारी ।
आननु सरद चन्द छविहारी ॥

जटा मुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन विसाल ।
नीलकण्ठ रावयनिधि सोह बाल विधु भाल ॥

—गो० तुलसीदास

हिमालय के प्रति

विरत हो गये तुम ऐसे, इसीलिए आज मवांग
 तुम्हें घेरे श्यामल पादप फूलों से तिले हैं
 वनस्पतियाँ शत - शत वर्षाओं की सुगवर्षिणी
 कविताएँ अपने पत्र-पुत्रों पर, घटकलो-शैवाला
 और जटाओं पर लिख रही हैं, तुम्हारे सुदुर्गम
 शिखर निभय विहगावलियों के मधुर कल्लोलों से
 मुखरित हैं, तुम्हारे वक्षपट के विस्तार में
 नदियों के सग - सग कोटि - कोटि नरनारी
 कुटियाएँ बाध रहे निभय निशक हो
 (याद है वह दिन) जब तुम हे अग्निगिरि !
 व्योम की स्पर्धा में कपित भूमडल से
 तेज-तुल्य उठे थे चन्द्रसूय ग्रसने को
 उस दिन प्रलय ही तुम्हारा एक साथी था
 (और) जब तुम 'और नहीं, और नहीं' कहकर
 रुक गये, चतुर्दिक् से वर्षा हुई सुखमय आस्था की
 तुम पर तुमसे ही आस्था को विस्तार मिला जैसे ।

×

×

×

मानो अनिवचनीय आनन्द के अव्यक्त आवेग में
 आलोक पानकर उदास दक्षिण पवन से
 गगन पर भारत - सिन्धु बाणोच्छ्वास फेंकता ।
 हे ऊर्ध्वग्राह्य नगराज ! उद्वाहित मेघ
 तुम्हारे ही गिरा में, छायाच्छन्न गुफाओं में
 बदी है प्रत्यावर्तित करोगे तुम ही उमे
 अनत जिनासा-रत सागर के हृदय में
 देकर उस मेघ को आनन्द नव, प्राण नव—
 वैसे ही, जैसे इतनी अवधि से ऊर्ध्वमुग

भारत का हृदय - सिन्धु चिर विशाल वाणी उदघोषता
 अनन्त के ज्योतिष्पथ से अनन्त को सौंप चुका है
 हे हिमाद्रि ! तुम्हारे स्तब्ध शिर में वह संचित है
 इसी हेतु तुम्हारे मौन शृंगों में खोजता फिरता
 हूँ शांत - शिव - अद्वैत के संग भारत का परिचय ।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनु० प्रबोधकुमार मजूमदार

तरानए हिन्दी से

परवत वो सबसे ऊँचा, हमसाया आसर्मा का !
वह सत्तरी हमारा, वह पासबा हमारा !
गोदी में खेलती है इसकी हजारो नदियाँ !
गुलशन है जिनके दम से रश्के जिनाँ^१ हमारा !

१ ऐसा कि जिससे स्वयं को भी ईर्ष्या हो

हिमालय

ए हिमाला ! ए फसीले - किश्वरे - हिन्दोस्ता !
चूमता है तेरी पेशानी को झुक कर आसमाँ !
तुममें कुछ पैदा नहीं देरीना - रोजी के निशाँ !
तू जवा है गदिशे - शामो - सहर के दमिया !

एक जल्वा था कलीमे - तूरे - सीना के लिए !
तू तजल्ली है सरापा चदमे - बीना के लिए !

इम्तहाने - दीदए - जाहिर में कोहिम्ना है तू,
पासबाँ अपना है तू, दीवारे - हिन्दुस्ताँ है तू !
मतलए - ओवल फलक जिसका हो वो दीवाँ तू,
सूए-खिलवतगाहे दिल दामनकशे-इन्साँ है तू !

चफं ने बाँधी है दस्तारे-फज्जीलत तेरे मर,
खदाजन है जो कुलाहे - मेहरे - आल्मताव पर !

फमाल, दीवार। किश्वर, बेग। पेशानी, माया। पैदा नहीं, प्रकट नहीं।
देरीना रोजी, बढ़ता। कलीमे, हजरत मुसा, जिन्होंने तूरे-सीना पर्वत पर ईश्वर
की परम ज्योति का दर्शन किया था। तजल्ली, ज्योति, जलवा। सरापा,
संपूर्णतया। चदमे-बीना, देखने वाली (तत्व-दृष्टा) भाव। इम्तहाने-दीदए
जाहिर में, बाह्य रूप की परीक्षा करने वाली दृष्टि। कोहिस्ताँ, पहाड़। पासबाँ,
चीकसी रखने वाला। मतलए-ओवल, चढ़ा या कसीदा ('प्रगति-काव्य') का
पहला शेर। फलक, ध्योम। दीवान, काव्य-संग्रह। सूए खिलवतगाहे दिल, हृदय
के अंतरंग की ओर। दामनकशे-इन्सा, मानव भाव का दामन खींचने वाला।
दस्तारे-फज्जीलत, अष्ट सम्मान की पगडो। खदाजन है, हँसती है। कुलाहे
मेहरे-आल्मताव, विश्व को ज्योतिष प्रकाशित करने वाले सूर्य का दोषी (या
ताज)।

तेरी उम्रे - रफ़ता की एक आन है अहदे - कुहन,
 बादियों में है तेरी काली घटाए खेमाजन।
 चोटिया तेरी सुरैया से है सरगमों - सखन
 तू जमी पर, और पहनाए - फलक तेरा बतन।

चश्चए-दामन तेरा आईनए-संयाल है,
 दामने-मौजे-हवा जिसरे लिए खमाल है।

अन्न के हाथों में रहवारे-हवा के वास्ते
 ताज़ियाना दे दिया बक्के-सरे-कुहमार ने।
 ए हिमाला! कोई बाजीगाह है तू भी, जिसे
 दस्ते-कुदरत ने बनाया है अनासर के लिए?

हाय, क्या फर्त-तरब में झूमता जाता है अन्न।
 फीले-बेजजीर की सूरत उड़ा जाता है अन्न।

जुबिशे - मौजे - नसीमे - सुबह गहवारा बनी
 झूमती है नशाए - मस्ती में हर गुल की कली।
 यो जवाने - बग से गोया है उसकी खामुशी।
 'दस्ते-गुलची की झटक मने नहीं देखी 'कभी'।'

बह रही है 'मेरी खामोशी है अफसाना मेरा।'
 कुजे - खिलवत खानए - कुदरत है काशाना मेरा।'

उम्रे रफ़ता, गत जीवन या आयु। आन, क्षण मात्र। अहदे-कुहन, प्राचीन युग।
 सुरैया, कृतिका मंडल। सरगमों-सखन, वार्तालाप में लीन। पहनाए-फलक,
 आराग का विस्तार। चन्मा, शरणा। आईनए-मयाल, प्रवाहमय दृश्य।
 अन्न, बाबल। रहमार, घोड़ा। ताज़ियाना, कौड़ा। बक्के, चिज़ली। कुहमार,
 पहाड़। बाजीगाह, क्रीडास्थल। दस्ते-कुदरत ने, प्रकृति के हाथों ने। अनासार
 पचभूत। फर्त-तरब में, खूब मस्ती में। फीले, हाथी। नसीम, सुबह की नम
 और भीनी हवा। गहवारा, पालना, झूला। जवाने बग से, पचड़ी रपी मुल से।
 गोया है बोल रही है। दस्त-गुलची, फूट तोड़ लेने वाले का हाथ। कुज खिल-
 वतगानए-कुदरत, प्रकृति का एकान्त का कोना। काशाना, घर।

आती हैं नही फराजे - कोह से गाती हुई,
 कौसर् - आ - तस्नीम की मौजो को शर्माती हुई।
 आइना - सा शाहिदे - कुदरत को दिखलाती हुई,
 सगे - रह से गाह बचती, गाह टकराती हुई।

छेड़ती जा इस इराके - दिलनगी के साज को
 ए मुसाफिर, दिल समथता है तेरी आवाज को।

लैलिए - शव खोलती है आ के जब जुल्फे - रसा,
 दामने - दिल खींचती है आवशारो की सदा।
 वह खमोशी शाम की, जिम पर तकल्लुम हो फिदा।
 वह दरख्ता पर तफक्कुर का सम्राँ छाया हुआ।

कांपता फिरता है क्या रगे - शफक कुहसार पर।
 खुशनुमा लगता है यह गाजा तेरे रुतमार पर।

ए हिमाला ! दास्ता उस वक्त की कोई सुना,
 मस्क्ने - आवाए - इसाँ जब बना दामन तेरा।
 कुछ बता उस सीधी - सादी जिन्दगी का माजरा,
 दाग जिम पर गाजए - रगे - तकल्लुफ का न था।

हा, दिखा दे, ए तसौबुर, फिर वो सुबहो-शाम तू।
 दौड पीछे की तरफ, ए गदिशे - ऐय्याम, तू।

—इकबाल

फराजे-कोह से, पहाड़ की ऊँचाइया से। कौसर्, तस्नीम, जन्नत (स्वर्ग) की
 दो नहरा का नाम हैं। शाहिदे-कुदरत, प्रकृति-रूपी सुंदरा प्रेयसी। सगे रह, राह
 के रोडे, पत्थर। गाह बची। इराक, एक राग का नाम जो सुबह लगभग ८९
 बजे गाया जाता है। दिल-नगी, हृदय में बसा हुआ। लल्लिए-गव, रात्रि-रूपी
 लला। जुल्फ रसा, लजे बाल। आवगार, झरने। सदा, आवाज। तकल्लुम,
 घाणा। तफक्कुर, चितन। शफक, सुबह या शाम की लाली। गाजा, पराग,
 पींडर। रुस्तार, गाल। मस्क्न, रहने की जगह। आवाए-इसा, आदि मानव
 पूवज। तसौबुर, कल्पना। ए गदिशे-ऐय्याम, ए समय के चक्र।

जयगान

हम करेंगे आज भारत देश का
जयगान !

द्वेष-दुख का अन्त होगा,
अब न नास दुरन्त होगा,
आज फहरेगा हमारा
एक विजय निशान !

हम करेंगे आज भारतवर्ष का
जयगान !
यश का गान !

रजत श्रृंग तुषारक्षेत्र,
तुंग यह हिमवान गिरिवर,
हम यहा निद्वन्द होकर
बनेंगे गतिवान !
हम करेंगे आज भारतभूमि का
जयगान !
यश का गान !

पोत-दल शत शत तरेंगे,
पश्चिमी सागर भरेंगे,
गजना में ध्वनित होगा
देश - गौरव - मान !
हम करेंगे आज भारतवर्ष का
जयगान !
यश का गान !

वर्ने विद्यामवन शोभन,
देवमन्दिर से सुपावन,
हम कहेंगे देश भारत
ज्ञानवृद्ध महान ।
हम करेंगे आज भारत देश का
जयगान ।
यक्ष का गान ।

—सुग्रहपुष्पम भारती
वनु० महादेवी

अयि जननी तेरा वन्दन है।
चिर वरेण्य तेरा वन्दन है।

सिन्धु तरंगों तेरी अनुचर,
सुन्दर चरणों में पहनाती
ये रजताभ फेन के नूपुर,
पर उनको सन्तोष न होता,
पहनाती उतारती फिर फिर,
कहती 'हे माता वन्दन है,
हे अनुपम हे चिर सुहागिनी
जननी तेरा अभिनन्दन है।'

चिर वरेण्य तेरा वन्दन है।

यह वारिद चल विद्युत्वाला,
घन गर्जन के पटह बजाता
धनता स्वर्णिम दीपक माला।
इन्द्रधनुष-स्तोरण वर्षास्त्र,
यह अनुपम भृगु-श्वेत्त्र निराला।
मातृभूमि तेरा वन्दन है।
शस्यधरा अयि अन्नपूर्णा
माता तेरा अभिनन्दन है।
चिर वरेण्य तेरा वन्दन है।

मलयपवन से खेल खेल कर,
विजय-वैजयन्ती सी शोभित,
शीश डुगती गिरि शिखरा पर,
ये एला बल्लरियाँ तेरा

सौरभ फैलाती न वहाँ पर ?
जन-जननी तेरा वन्दन है ।
हे अनुपम हे गुण-गणग्राहक
माता तेरा अभिनन्दन है ।
चिर वरेण्य तेरा वदन है ।

वधु-स्नेह-डोरे में कोमल
भाति भाति के सुमन गूथ हम
माला एक बना लें प्रेमिल ।
माता के उर पर शोभित वह
हो निवृत्तिमय, हो चिर उज्ज्वल ।
स्नेहमूर्ति तेरा वन्दन है,
ओ अद्वैत-भक्त की ज्ञाता
माता तेरा अभिनन्दन है ।
चिर वरेण्य तेरा वदन है ।

—बल्लतोल
अनु० महादवी

‘सो सही’—ज्योही कहा यानेश ने,
यान उतरे त्वरित ओर नगेश के।
पवतस्थल के निकट वह यान दल जब आ गया,
दृष्टि में वह सृष्टि का सौंदर्य दूना छा गया।
कही रिमझिम भरी झरनों की बहार,
है सुरभि के साथ पावस का बिहार।
परम दीप्तल पवन भी इस भाति आती है चली,
शरद को भी प्रिय लगी मानो मनोहर ये थली।
वृद्ध - वृद्ध उमग सग बिहग है,
शब्द सरसीले छबीले रग है।
वही वस्तूरी चमर-युक्त विविध चारु कुरग है,
सिद्ध गायन के वही दरसे रसायन अग है।
देवता का भाव व्यापक है अपार,
देव धारा । देव दारा । देवदार ।
देव - ऋषियो का तपस्थल । देव-माया का विभास,
देव-देव-महेश-प्रिय । जय अचल देव प्रभा-निवास ।
वाह, कंसा निजनत्व प्रभाव है ।
शैल प वैवल्य का बस भाव है ।
सत्य की - सी तर्जनी हिम-श्रृंग के मिस ठौर-ठौर,
ज्ञानियो को दे रही थी शुद्ध शिक्षा और और—

आप्त जन उपदेश यो देते हुए,
प्रेम से बोले—‘नम श्री शम्भवे ।’
यान उतरे स्थित हुए जब उस घरा छवि-रास पै,
बढ़ा यानाधीश ने—‘यह रजत गिरि कैलास है ।’

—राय देवी प्रसाद ‘पूण’

१८६५ १९१५

वीरभोग्या वसुन्धरा

प्रचित पुरातन नाम भूमि का वसुन्धरा है,
क्याकि विश्व-भर का इसमें सबस्व भरा है।
उमका परम पुनीत अग प्रिय भरत देग है,
जिसमें वसुधा के सर्वस का समावेश है।

उम सर्वस के उपभोग के अधिकारी हैं हम सभी,
इस वसुन्धरा के वीर सुत बल्घारी हैं हम सभी।

देश गीत

जय जय प्यारा भारत - देश !

जय जय प्यारा, जग से प्यारा,
शोभित सारा देश हमारा,
जगत - मुकुट, जगदीश - दुलारा,

जग - सौभाग्य, सुदेश !
जय जय प्यारा भारत - देश !

प्यारा देश, जय देशेन,
अजय अशेष, सद्य विशेष,
जहा न सम्भव अथ का लेश,

सम्भव केवल पुण्य - प्रवेन !
जय जय प्यारा भारत देश !

स्वर्गिव शीश - फूल पृथिवी का,
प्रेम - मूल, प्रिय लोकत्रयी का,
सुललित प्रकृति - नदी का टीका,

ज्यो निशि का राक्शे !
जय जय प्यारा भारत - देश !

जय जय शुभ हिमाचल - श्रगा,
बल - ख - निरत बलोलिनि गगा !
मानु - प्रताप - चमत्कृत अगा !

तेज - पुज तप - वेश !
जय जय प्यारा भारत - देश !

जग में कोटि - कोटि जुग जीवै,
जीवन - सुलभ अमी - रस पीवै,
सुखद वितान सुकृत का सीवै,

रहै स्वतन्त्र हमेश।
जय जय प्यारा भारत - देश।

—श्रीधर पाठक
१८६० १९२९

मातृभूमि

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुंदर है,
सूय चंद्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम प्रवाह, फूल तारे मण्डन है,
बंदी जन खगवृंद शेष-फन सिंहासन है।

करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस बेप की,
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।

जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं,
परम हस सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,
जिसके कारण धूल भरे हीरे कहलाये,

हम खेले-कूदे हृष्युत जिसकी प्यारी गोद में,
हे मातृभूमि! तुझको निरख मग्न क्यों न हो मोद में।

पाकर तुझमें सभी सुखों को हमने भोगा,
तेरा प्रत्युपकार कभी क्या हमसे होगा?
तेरी ही यह देह तुझी से बनी हुई है,
बस तेरे ही सुरस सार से सनी हुई है।

फिर अंत समय तू ही इसे अचल देत अपनायगी,
हे मातृभूमि! यह अन्त में तुझमें ही मिल जायगी।

निमल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल मन्द सुगंध पवन हर लेता श्रम है।

पद्म ऋतुओं का विविध दृश्ययुत अद्भुत श्रम है,
हरियाली का फल नहीं मरामत से कम है।

शुचि सुधा सौचता रात में तुम पर चन्द्र प्रकाश है,
हे मातृभूमि ! दिन में तरुण करना तम का नाश है।

सुरभित, सुन्दर, सुखद सुमन तुम पर खिलते हैं,
भाति भाति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं,
ओषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली,
खानें शोभित कहीं घातु वर रत्नो वाली।

जो आवश्यक होते हमें मिलते सभी पदार्थ हैं,
हे मातृभूमि वसुधा, धरा तेरे नाम यथार्थ हैं।

धील रही ह कहीं दूर तक शूल - श्रेणी,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी बेनी।
नदिया पैर पसार रही हैं बनकर चेरी,
पुष्पो से तरराजि कर रही पूजा तेरी।

मृदु मलय-वायु माना तुम्हें चन्दन चाह चढा रही,
हे मातृभूमि ! किमका न तू सारिख भाव बढा रही।

जिम पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे है भगवान कभी हम रहें न न्यारे।

लोठ लोट कर वही हृदय को शान्त करेंगे,
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे।

उस मातृभूमि की धूल में जब पूरे मन जायेंगे,
होकर भव-वचन-मुक्त हम आत्मरूप बन जायेंगे।

देखते थे दृश्य नित्य नये नये वे,
अन्त में गिरि गन्धमादन को गए वे।

सहज था किसको वहाँ का पथ चलना ?
घन गहन में कठिन किरणों का निकलना।

अग्नि स्वागत कर उठा हिम-हास करता,
था निसर्ग वहाँ निरन्तर वास करता।

आ गए कैसे, कहा से, कब, कहाँ वे,
आप अपने को विचित्र लगे वहा वे।

प्रकृति-पूरुष-दुग सा सम्मुख खड़ा था,
किन रहस्यों से भरा कितना बड़ा था।

‘अनुज लगता है मुझे इस ठौर ऐसा,
मनुज का ससार है सकीर्ण कैसा।’

पेश क्या निज रोम तक इसने पकाये,
काल कितने देख इसको अकचकाये।

सिद्ध योगी-सा समाधि निमग्न यह,
भूमि से उठ गगन से सलग्न है यह।

देवदार समान ऊँचे और मोटे,
वृक्ष इसके निकट छत्रक तुल्य छोटे।

मग्न से होकर जल्द श्रोतस्वरो में,
मनड-जाल बने पड़े ह गह्वरो में।

वाहु नम में और पद पाताल में है,
प्रकट कटि-पट्ट विटपियो के जाल में है।

शैलराज सहस्र शीर्षोपम बड़ा है,
वरद विभु सा अभय मुद्रा में खड़ा है।

सरस शत शत निम्फरो के नीर से है,
द्रवित-सा यह प्राण और शरीर से है।

ठौर अतर्वाह्य तृष्णा-शांति का यह,
है ठिकाना एक ही अक्लान्ति का यह।

डाल दरियो पर घटाओ की जवनिका,
सम्य इवापद भी बना इमकी अवनि का।

एक रव की गूज कितने ठौर से है,
वन गइ वसुधा वनी इस मौर से है।

उठ तपन को यदि न शांत किये रहे यह,
लोक उसका तेज तो कसे सहे वह?

शूय भर कर यह रजत-मन्दिर बड़ा है,
मिहिर हीरक-कलश-सा इस पर चड़ा है।

अवनि अम्बर का यही मध्यस्थ अपना,
सुन रहा है ध्यान से हँसना विलपना।

—मैथिलीशरण गुप्त
जन्म १८८६

पा प्यारा अमरत्व,
अमर आनंद अभय पा,
विश्व करे अभिमान,
वीर बल पूण, विजय पा,
जागृति जीवन ज्योति
जोर से हो, तू दमके,
परम काय का रूप बने,
बसुधा में चमके,

तू भुजा उठा दे हे जयी !
जग चक्कर खाने लगे,
दुस्त्रिया के हिय शीतल बने,
जगतीतल हुलसाने लगे।

तेरे कच्चा चढे,
जगत जीवन की आशा,
तेरे बल पर बढे,
जाति, जागृति, अभिलाषा,
कमी रहे कटि कम
महा वारिधि तरने को
गरुड छोड़, पद चलें,
दुग्गी का दुप हारने को।

वह प्रेम सूत्र में गुंथ रहा,
दुस्त्रियो के मन का हार है,
बसुधा का बल सचार ही,
श्री चरणा का उपहार है।

आ, आहा ! यह दिव्य
देश दर्शन दिखला, आ !
उलट पलट के विकट
कर्म कौशल सिखला, आ !

‘जय हो’ यह हुकार
हृदय दहलाने वाली !
कांप उठी उस
वन प्रदेश की डाली डाली !

ले, श्री मनुष्यता मत्त हो
विजय ध्वनि आराधे खड़ी,
श्री प्रकृति प्रेम पाली बनी
वीणा के स्वर माधे खड़ी।

आहा । पन्द्रह कोटि
हार ले, आये आली,
जगमग जगमग हुई
कोटि पन्द्रह ये थाली,
अध्य दान के लिए
हिमालय आगे आये,
रत्नाकर ये खड़े,
धुलें श्री चरण सुहाये ।

यह हरा हरा भावो भरा
कर्मस्यल स्वीकार हो,
नवजीवन का सचार हो, क्यों हो?
कृति हो, हुकार हो।

—माखनलाल चतुर्वेदी
जन १८८८

द्विविधा

लम्बे सीधे सघन इक्ठे
विविध विटप अवली से शोभित,
चिड़ियों की चह चह से जाग्रत
भरनो से दिन रात निनादित,
पवत की उपत्यका में है
कितना सुख ! कितना आवपण !
शान्ति स्वस्यता बाँट रहा है
सतत जहाँ का एक एक क्षण ।

वही वही दूर्वादल शोभित
कोमल समतल विशद धरा पर,
कस्तूरी मग ने चर-चर कर
जिसको है कर दिया बराबर,

वठ प्रिया की मधुर गिरा में
उसके अन्तस्तल का सुंदर,
चित्र देख कर म करता हूँ
उम पर निज सबस्व निछावर ।

पवत शिखरो का हिम गलकर
जल बनकर नाली में आकर,
छोटे बड़े चीकने अगणित
शिला-समूहो से टकरा कर,

गिरता, उठता फेंक बहाता
करता अति कोलाहल 'हर हर',
बीर-याहिनी की गति से वह
बहता रहता है निशि वासर ।

मानो जल्दा के शिशुगण, दल
वाँघ खेलते हुए परम्पर,
अति उतावलेपन से चलकर
गोलपत्यरा पर गिर-गिरकर,

चलने करते नृत्य विहंसते
तथा मनाते हुए महोत्सव,
सागर से मिलने जाते हैं
पथ में करते हुए महारव।

इनका बाल-विनोद देखते
हुए किसी तीरस्थ शिला पर,
सतत सुगन्धित देवदारु की
छाया में सानन्द बैठ कर,

सिर धर हरि के पद पद्मा पर
करके जीवन-सुमन समर्पण,
बना नहीं सकता क्या कोइ
अपने को आनन्द-निकेतन ?

—रामनरेश त्रिपाठी
१८८९-१९६१

हिमालय के प्रति

हिमालय ! हिम-शेखर ! हिम-प्राण ! दिव्यता के तुम हो अवतार,
उच्चता के तुम हो आदर्श, देश के गौरव हो साकार !

खड़े हो प्रहरी-सदृश सगव भव्य भारत के तुम निर्भीक,
लिये हो युग-युग के स्मृति चिह्न विपुल वैभव के अमर प्रतीक ।

विविध तरु-लता-वेलि-सम्पन्न प्रकृति के तुम हो सुपमागार,
सुगन्धित मृगमद से सब काल मही के हो मनोज्ञ शृंगार ।

दिवस में स्वर्ण शैल अभिराम, निशा में रजत शैल अवदात,
मनोरम गैरिक-शैल ललाम ज्ञात होते हो साय प्रात ।

निवटवतीं नभ का आलोक तुम्हें देता है कांति नवीन,
निशा में होता तारक-लोक तुम्हारे अक-मध्य आसीन ।

तुम्हारे वन हैं नन्दन-तुल्य ग्राम हैं सुरपुर-से छवि-धाम,
हो गया है तुम पर अवतीर्ण गगन से देवलोक अभिराम ।

तुम्हीं में पाता है मधु मास मनोहर उत्फुल्लता ललाम,
तुम्हीं में होता है चरिताय प्रथित मधु का कुसुमाकर नाम ।

चन्द्रमा भी वन कर शीताशु तुम्हें देता है सुखद प्रकाश,
ग्रीष्म भी धनता है मधुमास पहुँच कर सदा तुम्हारे पास ।

दिखाते हो सबसे अनुराग, सिखाते हो तुम पर उपकार,
बिया बरते हो तुम, हिमवान् देश में प्रेम-भाव सचार ।

नही सह सकते हो तुम ताप, शीघ्र होते हो द्रवित अपार,
बुझाने की जगती की प्यास बहा दी है नदियों की धार ।

पावनी सुर-भरिता की धार तुम्हें करती है सदा पुनीत,
गूजते हैं तुममें अविराम चिरन्तन देव-लोक के गीत।

ज्ञान-निधि वेद पुराण प्रसिद्ध हुए हैं तुममें आविर्भूत,
तुम्हारे तपोवनों में दिव्य हुए हैं अगणित अथ प्रभूत।

दिये तुमने भारत को दिव्य न जाने कितने नये विचार,
तुम्हारे शृंगा से गिरिवर ! विविध धर्मों का हुआ प्रचार !

पली थी आर्य-भूम्यता चार तुम्हारे चरणों ही के पास,
तुम्हारे प्राण में ही मनु कणजों का था हुआ विवास।

न जाने कितने अनुपम रत्न छिपे हैं तुममें तेज-निधान,
जिन्हें यह भौतिकादी विश्व अभी तक मका नहीं पहचान।

विश्व के छत्र-प्रपञ्च में उन्नत मनुज जो होते हैं हतज्ञान,
शरण में उनका देकर स्थान शान्ति करते हो गीघ्र प्रदान।

भेजते रहते हो तुम मौन देग को नित्य नये मन्त्रों,
दिशाने जान्मोक्षति का मार्ग ज्ञान का देते हो उपदेश।

क्याँ भारत की प्राचीन तुम्हें हैं हृन्मामलज-ममान,
जानते हो वह भी इतिहास किमी को हुआ न चिमका ज्ञान।

विश्व के दो भागा के बीच खड़े हो तुम मध्यम्य समान,
शान्ति रक्षा के गैरायोग ! स्वयं तुम हो प्राकृतिक विधान।

हजारों उपल-पुष्प के दृश्य सैकड़ों पवन और उत्थान,
देख कर भी न कदापि अधीर हुए तुम लोभोत्तर धृतिमान।

उठा कर निज गर्वोन्नत शींग देखने हो तुम जग की आर,
न छू पाता है भद-मालिन्य तुम्हारे स्वच्छ हृदय का छोर।

हिमालय के प्रति

हिमालय ! हिम-शेखर ! हिम-प्राण ! दिव्यता के तुम हो अवतार,
उच्चता के तुम हो आदर्श, देश के गौरव हो साकार !

खड़े हो प्रहरी-सदृश सगव मव्य भारत के तुम निर्भीक,
लिये हो युग-युग के स्मृति-चिह्न विपुल वैभव के अमर प्रतीक ।

विविध तरु-लता-वेलि-सम्पन्न प्रकृति के तुम हो सुपमागार,
सुगन्धित भृगमद से सब काल मही के हो मनोज्ञ शृंगार ।

दिवस में स्वर्ण-शैल अभिराम, निशा में रजत-शैल अवदात,
मनोरम गैरिक-शैल ललाम जात हलते हो साय प्रात ।

निकटवर्ती नभ का आलोक तुम्हें देता है कान्ति नवीन,
निशा में होता तारक-लोक तुम्हारे अर्ध-मध्य आसीन ।

तुम्हारे वन हैं नन्दन-तुल्य ग्राम हैं सुरपुर-से छवि-धाम,
हो गया है तुम पर अवतीर्ण गगन से देवलोक अभिराम ।

तुम्हीं में पाता है मधु मास मनोहर उत्फुल्लता ललाम,
तुम्हीं में होता है चरिताय प्रथित मधु का कुसुमाकर नाम ।

चन्द्रमा भी बन कर शीताशु तुम्हें देता है सुखद प्रकाश,
श्रीष्म भी बनता है मधुमास पहुँच कर सदा तुम्हारे पास ।

दिखाते हो सबसे अनुराग, सिखाते हो तुम पर उपकार,
किया करते हो तुम, हिमवान ! देश में प्रेम भाव सचार ।

नही सह सकते हो तुम ताप, शीघ्र होने हो द्रवित अपार,
बुझाने की जगती की प्यास बहा दी है नदियों की धार ।

पावनी सुर-सरिता की धार तुम्हें करती है सदा पुनीत,
गूँजते हैं तुममें अकिराम विरन्तन देव-लोक के गीत।

ज्ञाननिधि वेद पुराण प्रमिद्व हुए हैं तुममें आविर्भूत,
तुम्हारे तपोवना में दिव्य हुए हैं अग्नि ग्रन्थ प्रभूत।

दिये तुमने भारत को दिव्य न जाने कितने नये विचार,
तुम्हारे शृंगा से गिरिवर्य ! विविध धर्मों का हुआ प्रचार।

पत्नी थी आप-सम्पत्ता चारु तुम्हारे चरणा ही के पाम,
तुम्हारे प्राण में ही मज्जु कलाओं का था हुआ विक्राम।

न जाने कितने अनुपम रत्न छिपे हैं तुममें तेज-निधान,
जिन्हें यह भौतिकवादी विद्व जभी तक सका नहीं पहचान।

विश्व के छत्र-प्रपञ्च में ऊँच मनुज जो हाने हैं हतयान,
शरण में उनको देकर स्थान आन्ति करते हो गीध प्रदान।

भेजते रहते हो तुम मीन देग को निय नये सन्देश,
दिशाते आत्मोन्नति का मार्ग ज्ञान का देते हो उपदेश।

क्याएँ भारत की प्राचीन तुम्हें हैं हम्नामलक-ममान,
जानते हो वह भी इतिहास किसी को हुआ न निमका ज्ञान।

विश्व के दो भागों के बीच खड़े हो तुम मध्यस्थ समान,
शान्ति-रक्षा के गैंगधौन ! स्वयं तुम हो प्राकृतिक विज्ञान।

हजारा दय-पुत्र के दृश्य संकटा पनन और दयान,
देख कर भी न कदापि अभीर हुए तुम लोकोत्तर धृतिमान।

उठा कर निज गर्वोन्नत ग्रीव देगते हो तुम जा को रो,
न छू पाना है मद-माग्नि तुम्हारे स्वच्छ हृदय का टो।

प्रकृति के हो तुम मन्दिर भजु धरा की पवित्रता के धाम,
विश्व के हो तुम श्रद्धा-पात्र, रूप है रुचिर, मधुर है नाम।

रहा है तुमको प्राप्त सदैव तपस्वी ऋषि मुनियों का प्यार,
गुफाओं में संचित है दिव्य युगों का अतुल ज्ञान-भण्डार।

दिया तुमने गिरिजा को जम, जिसे पाने को स्वयं महेश,
हो गये सगुण-प्रेम में लीन, छोड़ निर्गुण का ध्यान विशेष।

इधर भारत की सुंदर भूमि उधर तिब्बत की धरा ललाम,
तुम्हारे चरणों पर रख शीश सदा करती है तुम्हें प्रणाम।

छिपा है तुममें प्रचुर रहस्य जगत के जीवन का अमरत्व,
शिलाओं में है अंकित दिव्य मनुजता के अध्यात्मिक तत्त्व।

तुम्हारे दृश्यों में है वाय्व्य, निम्नरो में है मधु संगीत,
श्वेत शिखरों में उच्चादश, वनों में है सद्भाव पुनीत।

व्योम से स्पर्शित पवतराज! तुम्हारे उच्च शिखर छविमान,
बारिदों के विश्राम-स्थान बने हैं सुरपुर के सोपान।

ज्ञात होते हैं नित्य नवीन तुम्हारे शुचि प्रदेश प्राचीन,
तुम्हारा है नैसर्गिक रूप, स्वच्छ, निमल, आढम्बरहीन।

बहन करते हो तुम सन काल देग-रक्षा का गुरुतर भार,
तपश्चर्या करते हो नित्य कि सन्तत सुखी रहे ससार।

—गोपालशरण सिंह

१८८९-१९६०

प्रयाणगीत

हिमाद्रि तुग शृग से
प्रबुद्ध गुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती

‘अमत्य वीरपुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो

प्रशस्त पुण्य पण्य है -
बड़े चलो, बड़े चलो।’

असह्य कीर्ति - रश्मियाँ
विकीर्ण दिव्य दाह - सी।
मपूत मातृभूमि के -
रुको न गूर माहसी।

अराति सैन्य-सिन्धु में सुवाइवाग्नि से जलो,

प्रवीर हो जयी बनो
बड़े चलो, बड़े चलो।

हिमालय

विश्व-रत्नना-सा ऊँचा वह
सुख शीतल सतोष निदान,
और दूबती सी अचला का
अवलम्बन मणि रत्न निधान।

अचल हिमालय का शोभनतम,
लता-फलित शुचि मानु शरीर,
निद्रा में सुख स्वप्न देवता
जैसे पुलकित हुआ अधीर।

उमड़ रही जिसके चरणों में,
नीरवता की विमल विभूति,
शीतल झरनों की धारा में
विवराती जीवन अनुभूति।

उस असीम नीले ज्वाल मे
देम किसी ती मुहु मुस्कान,
मानो हँसी हिमालय की है
फूट चली करती कल गान।

गिला-सधिया में टकराकर
पवन भर रहा था गुजार,
उम दुभेद्य ज्वाल दहना का
करता चारण सदृश प्रचार।

राधा धन माला की सुन्दर
जोड़े रग विरगी छोट,
गान चुम्बिनी गरु-श्रेणियाँ,
पहो हुए तुपार-किरीट।

विश्व, मौन, गौरव महत्व की
प्रतिनिधियों सी भरी विभा,
इस अनन्त प्रागण में मानो
जोड़ रही हो मौन सभा।

वह अनन्त नीलिमा ध्योम की
जड़ता सी जो शान्त रही,
दूर दूर ऊँचे से ऊँचे
निज अभाव में भ्रान्त रही।

उसे दिखाती जगती का सुख,
हँसी और उल्लास अजान,
मानो तुम तरंग विश्व की
हिमगिरि की वह सुदूर उठान।

धी अनन्त की गोद सदश जो
विस्तृत गुहा वहा रमणीय,
उसमें मनु ने स्थान बनाया,
सुन्दर स्वच्छ और वरणीय।

श्रम ताप और पथ-पीड़ा
क्षण भर में थे अन्तर्हित,
मामने विराट धवल नग
अपनी महिमा से विलसित।

उसकी तलहटी मनोहर
श्यामल तण वीरघ वाली,
नव कुज गुहा-गह सुदूर
हृद से भर रही निराली।

वह मजरियो का कानन
कुछ अरुण पीत हरियाली,
प्रतिपक्ष सुमन सकुल थे
छिप गई उन्ही में डाली।

मरकत की वेदी पर ज्यो
रक्खा हीरे का पानी,
छोटा सा मुकुर प्रवृत्ति का
या सोई राका रानी।

दिनकर गिरि के पीछे अब
हिमकर था चढा गगन में,
कैलास प्रदोष प्रभा में
स्थिर बैठा किसी लगन में।

सध्या समीप आई थी
उम सर के वल्कलवसना,
तारों से अलक गुंथी थी
पहने कदम्ब की रसना।

सग कुल किल्कार रहे थे
मल्लस कर रहे बल्लरव,
बिन्नरियाँ बनी प्रतिध्वनि
लेती थी ताने अभिनव।

मनु बैठे ध्यान निरत थे
उस निमल मानस तट में,
सुमनो की अजलि भर कर
थी श्रद्धा खड़ी निवट में।

—जयशंकर 'प्रसाद'

१८८९-१९३७

अमृताचल

अर्धं मय मे उत्तर प्रतीची के प्राण में,
विलट रहे थे जहा स्वर्ण-हय-गज क्षण क्षण में,
हुआ दिवाकर रक्त जवनिका में अन्तर्हित,
बाहर जिसकी रश्मि-गिरा अब भी थी मुखरित।

मूनापन बढ खला शैल के सूनेपन में,
मुंदने को हो उठे नयन ज्यों मूक वदन में,
विलरे आभा रत्नकणा का सचय करती,
दरसी सध्या अधोमुखी घोंरे पग धरती।
रका पवन चुपचाप लगा लेने आहट-सी,
आ पहुँचा तमसाघकार क्या वही निकट ही।

थी यह अन्तिम शिला कि जिस पर आरोहण कर,
दीखेगा या प्रथम बार हृद किञ्चित कण भर—
शैल-द्रुमा की किसी सधि में से ज्या झलमल,
झाँक रहे हो नेत्र किमी के नीलम निमल।

निस्तल का यह सलिल पलायित बालक के सम,
घर धरती में गहन गमगन भाग सुदुगम,
उत्तमवेग में उच्च अद्रि पर आरोहण कर,
ताक रहा था नील गगन को शिलाशयन पर।
इस गिरि का जलकुण्ड वही नव नीलम निर्मल,
नीलकण्ठ की स्मरण-साधना में था अविचल।

पद-पूजन का भी क्या उपाय ?
तू गौरव गिरि उत्तुग काय ।

तू अमल-धवल है, मैं श्यामल,
ऊँचे पर ह तेरे पद-तल,
यह हूँ मैं नीचे का तृण-दल
पहुँचू उन तक किस भाति हाय !
तू गौरव गिरि उत्तुग काय ।

हो शत शत भक्तावात प्रवल,
फिर भी स्वभावत तू अविचल ।
म तनिक-तनिक मैं चिर चचल,
मेढ़ू कैसे यह अतराय ?
तू गौरव गिरि उत्तुग काय ।

अविरत तेरा कृष्णा - नभर
अगणित धाराओ से भर भर,
जीवित रखता है जीवन भर
मेरा यह जीवन जडित प्राय ?
तू गौरव गिरि उत्तुग काय ।

ह जहाँ अगम्य दिवावर - वर
तेरे गह्वर भी आवर - वर,
हैं ऊँचो से भी ऊँचे पर,
मन उन तक भी किम भाँति जाय ?
तू गौरव गिरि उत्तुग काय ।

—सिद्धारामशरण गुप्त
जन्म १८९५

हिन्दुस्थान हमारा है

कोटि कोटि कण्ठों से निकली
आज यही स्वर - धारा है,
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

यहा प्रथम मानव ने खोले
निदियारे लोचन अपने,
इसी नभ तले उसने देखे
शत - शत नवल - सृजन सपने,
यहाँ उठे, 'स्वाहा।' के स्वर औ'
यहा स्वधा के मन्त्र बने,
ऐसा प्यारा देश पुरातन
ज्ञान निधान हमारा है।

भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

विन्ध्य, सत्पुडा, नागा, ससिया,
ये दो औषट घाट महा,
भारत के पूरव - पश्चिम के
ये दो भीम कपाट महा,
तुंग - शिखर, चिर - अटल हिमाचल
है पवत - सम्राट यहा,
यह गिरिवर बन गया युगा से
विजय - निशान हमारा है।

भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

(२)

है आसन-भूत अति उज्ज्वल,
है अतीत गौरव शाली,
ओ छिटकी है वतमान पर
वलि के शोणित की ताली,
नव-ऊपा-सी विजय हमारी
विहेंस रही है भतवाली
हम मानव को भुक्त करेंगे
यही विधान हमारा है।

भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

गरज उठे चालीस कोटि जन
सुन ये वचन उछाह - भरे,
काप उठे प्रति पक्षी जनगण,
उनके अतस्तल सिंहरे,
आज नये युग के नयनो से
ज्वलित अग्नि के पुज भरे।
कौन सामने आयेगा? यह
देश महान हमारा है।

भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

१८९७—१९९०

नगाधिराज के गिस्तर चमक चमक उठे

वदल गये दिवस, वदल महा निशा गई,
कि सूर्य, चंद्र, मेघ औ' वदल उपा गई,
निशा गई वदल महान् अघकार की,
कि जीन में गयी वदल पुकार हार की ।

अरे महान् देश के महान् अग तुम,
रहे स्वदेश शक्ति में विवेक सग तुम,
स्वदेश हैं विपत्तिप्रस्त प्राण, ओज दो,
स्वशक्ति का स्वदेश में खिला सरोज दो ।

नगाधिराज के गिस्तर चमक चमक उठे,
सुधागु पीत सिंधु जल लपक लपक उठे,
कि प्राण में लहर उठे चमक उठे धरा,
अनन्त शक्ति उर्वरा बने वसुधरा ।

—उदयशंकर भट्ट
जन्म १८९७

भारती-वन्दना

भारति, जय, विजय करे
वनक - शस्य - कमल घरे ।

लका पदतल - दातदल,
गजितोमि सागर - जल,
घोता शुचि चरण - युगल
स्तव कर बहु अय - भरे ।

तर - तण - वन - लता - वसन,
अञ्जल में सचित सुमन,
गगा ज्योतिजल - वण
धवल - धार हार गले ।

मुकुट शुभ्र हिम - तुषार,
प्राण प्रणव ओकार,
ध्वनि दिशामें उदार,
शतमुख - शतरव - मुखरे ।

—सूयकांत त्रिपाठी 'निराला'

१८९८—१९६१

हरियाली से भरी हुई है घाटी की गहराई,
जिममें खग कूजन की धारा फिरती है गहराई।
गिला सण्ड में मूर्ति बनानी, धार बारि छेनी से,
मग में मक् कुठ कह लेती है, नोगी मृगमयी से।

गिरती पड़ती चक्कर खानी, नाच भँवर में, गाती,
सुमन-रागि अचल में भरती, मदमाती, इठगानी।
गुप्त गुप्त, सरि ने मृगों को वनमाला पहनाई,
सुर बधुएँ देखा करती है यह मोना लज्जाई।

लिपटे हैं आकाश-त्रय में मृग श्रेणिया के गिगाण,
मचल मचल, उतत पयाधरो में, लुक छिपकर ताप शमन,
मन्ध्या में, रवि कटुक नीला में, जो छोन छिपाते हैं
चमक चमक कर, रंग में भर भर, जद्भुन रूप दिखाते हैं।

इन घाता के मैदाना में इन हरे भरे मन्त्रूंगे प,
इन गिरि-गिरा के अका में, इन सरिताजा के कूला पर।
जो रहा चाटना जोस रात भर प्यासा हो या धूम रहा
वह माम्न पुष्पा का प्यास खाली कर कर है धूम रहा।

पवन के चरणों में लिपटी वह हरी नरी जो घाटी है,
जिममें चलने की चर क्षर है फूगे ही से जो पाटी है,
चमके तट में सुरम्य नू पर, झाड़ी के मिलमिल घघट में,
है नदें वगी इक मान रही लिपटी घाता ने ही पट में।

—गुरुभक्त सिंह 'भक्त'

जन १८९९

मानदड भू के अखड हे
 पुण्यधरा के स्वर्गारोहण,
 प्रिय हिमाद्रि, तुमको हिमकण-से
 घेरे मेरे जीवन के क्षण ।
 मुझ अचलवासी को तुमने
 शैशव में आशा दी पावन,
 नभ में नयनो को खो, तब से
 स्वप्नो का अभिलाषी जीवन ।

कब से शब्दों के शिखरो में
 तुम्हें चाहता करना चित्रित ।

शुभ्र शान्ति में समाधिस्थ हे
 शाश्वत सुंदरता के भूभृत् ।
 बाल्य चेतना मेरी तुम में
 जड़ीभूत आनंद तरंगित,
 तुम्हें देख सौंदर्य - साधना
 महादय से मेरी विस्मित ।

जिन शिखरो को स्वर्ण किरण नित
 ज्योति-मुकुट से वरती मंडित,
 जिन पर सहसा स्तलित तडित्
 हो उठती निज आलोक से चकित,
 जिन शिखरो पर रजत पूर्णिमा
 सिन्धु-ज्वार-भी रगती स्तमित,
 जिनकी नीरवता में मेरे
 गीत स्वप्न रहते थे श्रुत !

जिनकी शीतल ज्वाला में जल
 वनी चेतना मेरी निर्मल,
 प्राण हुए आलोकित जिनके
 स्वर्गोन्नत सौन्दर्य से सजल !
 हृदय चाहता काव्य कल्पना को
 किरीट पहनाना उज्ज्वल,
 स्मृति में ज्योति तरंगित स्वर्गिक
 शृंगो के आलोक का तरल !

रवि की किरणें जिसे स्पश कर
 हो उठती आलोक निनादित,
 जिस पर ऊषा सध्या की छवि
 आदि सृष्टि-सी ही स्वर्णांकित,
 इन्दु ज्वलित तुम स्फटिक धवलमा
 के क्षीरोदधि - से हिल्लोलित,
 ज्योत्स्ना मे थे स्वप्न मौन
 अप्सरा लोक - से लगते मोहित !

सुरैंग प्रवालो की रत्न-श्री
 अहरह रहती जहाँ प्रमरित,
 देवदारु की चारु सूचि से
 मरकत तरुहटियाँ रोमांचित !
 मौन स्वर्ग-मुख पर अंकित तुम
 शुचि दिगत स्मृति-से चिर शोभित
 आदि तत्त्व-से, अपनी ही शोभा
 विलोक रहते अनिमेषित !

नीली छायाएँ थी तन पर
 लगती आभा की सी सिकुडन,
 इन्द्र धनुष मडल से दीपित
 उडते थे शत हंसमुख हिमवण,
 स्वर्दूतो के पखो - से स्मित
 तडित चकित हिम के रोमिल घन
 रगो से बेडित रखते थे
 तुमको हे आलोक निरजन !

प्रति वत्सर आती थी मधु ऋतु
 सद्य स्फुट देही ले कुसुमित,
 नीर रश्मियो को, फूँगे के
 अगो पर निज कर शत रजित,
 सुलती - पद्मडिया की कचुक
 सौरभ द्वासो से थी स्पदित,
 मेरे शैशव को नित उसकी
 गीत कोकिला करती कुजित !

कलरव, स्वप्नातप, सुरधनु पट,
 दाशमुख, हिमस्मिति, गात्र ले द्यसित,
 पङ्कतु करती थी परिधमा
 अप्सरिया सी सुरपति प्रेषित,
 शरद चद्रिका हो जाती थी
 स्वप्नो के शृंगो पर विजडित,
 हिम की परियो का अचल उड,
 भू को कर लेता था परिवृत !

रग रग के चित्रित पक्षी
उड़ते नभ में गीत तरंगित,
नील पीत भगा का गुजन
मौन क्षणों को रखता मुखरित,
ऊष्मा का सूर्यातिथ तुम में
लगता शीतलता - सा भूर्ति,
इंद्रचाप - पुल पर, वर्षा में,
सुरबालाएँ आ जाती नित !

जग प्रच्छाद्य गुहाओं में नव,
वाष्पो के गज भरते गजन,
चंचल विद्युत - लेखाएँ थी
लिपट दृगो से जाती तत्क्षण,
ताराओं के साथ सहज
शैशव स्वप्नों से भर जाता मन,
उठते थे तुम अन्तर में
सौंदर्य स्वप्न - धृगो - पर मोहन !

मेघों की छाया के संग - भ्रम
हरित घाटियाँ चलती प्रतिक्षा,
वन के भीतर उड़ता चक्र
चित्र तितलियों का कुसुमिन दण्ड,
रंग - रंग के उपला पर
उछल उत्स करते वन
क्षरनों के स्वर जम - में
रजत हिमानी सूत्रों में

भीम विशाल शिलाओ का वह
 मौन हृदय में अब तक अकित,
 फेनो के जल स्तम्भो - से वे
 निझर रमस वेग से मुखरित,
 चीड़ो के तरु वन का तम
 साँसे भरता मन में आदोलित,
 दरियो की गहरी छायाएँ
 ज्योति रिंगणो से धी गुफित ।

गाते उर में क्षिप्र स्रोत,
 लहराते सर तुषार के निर्मल
 सौरभ की गुजित अल्को से
 छू समीर उर करता शीतल,
 नीली पीली हरी लाल
 चपलाओ का नभ जगता चंचल,
 रजत कुहासे में, क्षण में,
 माया प्रातर हो जाता ओथल ।

मदन दहन की भस्म अनिल में
 उड़, अब तक तन बरती पुलकित,
 सती अपर्णा के तप से
 वनश्री अवाक - सी लगती विस्मित !
 अब भी ऊया वहाँ दीखती
 वधू उमा के मुख - सी लज्जित,
 वढती चन्द्रकला भी गिरजा - सी
 ही गिरि के त्रोट में उदित !

अब भी वही वसत विचरता
 पुष्पशरो से भर दिगत स्मित,
 गघोद्दाम धरा वह ही, पापाण-
 शिलाएँ पुलक पल्लवित ।
 अब भी प्रिय गौरा का शैशव
 वर्णन करते खग - पिक मुखरित,
 देवदारु के ऊर्ध्व शिखर
 घैसे ही शकर - से समाधि स्थित ।

—सुमित्रानन्दन पन्त
 जन्म १९००

हिम-विजन

शुभ्र शात, हिममहिम असीम विजन में
करता था वह वास, सदा - निर्वासी,
हिमकी स्फटिक-शिला से रचित भवन में,
एकाकी रहना था नित उल्लासी।

माया - भवन रचा वह मय दानव ने,
इन्द्रजाल - सा था वैसा मन - मोहन।
वह शोभा देखी न कभी मानव ने,
विचलित हो जाते थे विस्मित लोचन।

हिमाधार पर हिम के स्तम्भ खड़े थे,
खण्ड खण्ड था शुभ्र काच सा निमल,
ठोर ठोर नीहार - प्रदीप पड़े थे—
सूयवात की प्रखर प्रभा से उज्ज्वल।

चन्द्रकांत मणि की फुलझडिया शीतल
हिम के फानूसा पर नित्य चमकती,
पुण्य प्रकाश तुषार-शिखाएँ अविचल
स्तम्भों में निष्कप, निवात झलकती।

हिम स्फुलिंग-वणिवाओं का फौवारा
शुभ्र फरक पर फुहारता था छर-छर,
यत्र - विनिगत, रजत - भाम हिमधारा
लहराती उस माया - गूह के भीतर।

विपुल बाल तब विमल तपन की माया
उसे नितर करती थी आलोकित,
दीघअवधि तक निखिल तारका छाया
स्निग्ध भास में करती उसको पुलकित।

दीर्घ समय में एक बार सिलती थी
ऊया की लाली उस परी भवन में,
एक बार विलमिल झिलमिल हिलती थी
वनक - झलक सध्या की उस दरपन में।

समय समय पर ज्योत्स्ना लहर - लहर कर
हिम - महिमा पर शात छटा फैलाती,
उस माया की भूच्छा सिहर - सिहर कर
शुभ्र विजन को करके मगन सुलाती।

राजभूमि में उस अखंड शोभा की
राज विशोर मगन - मन से रहता था।
छटा विभासित करके आत्म विभा की
शुभ्र भास में मन्द मन्द बहता था।

—इलाचंद्र जोशी

जन्म १९०२

कौन तुम अग्नि शिखा की ज्वाल

शांति के मण्डल में हूँ व्याप्त
तुम्हारा यह अशांत ससार,
और अनिमेष दृगो की ज्योति
क्षितिज को कर जाती है पार।
तुम्हारी श्रृंखला के हूँ स्रोत
सात आकाश सात पाताल।
तुम्हीं हो जीवन के प्रतिविम्ब
अमरता के पावन उपहार,
तुम्हीं मैं हूँ सत चित आनन्द
तुम्हीं हो जग के बेसुध प्यार।
विश्व का व्यापक कल्प
तुम्हारा कल्प क्षूय की चाल।

मनुष्य जब सगव कह उठा कि आज मान दो।
मुझे महान मान दो।
प्रकृति पुकार तब उठी अरे कि शीश दान दो।
समय शीघ्र दान दो।

—भगवतीचरण वर्मा

जन्म १९०३



वीरो का कैसा हो वसन्त ?

आ रही हिमाचल से पुकार,
हैं उदधि गरजता बार बार,
प्राची पश्चिम भू नभ अपार,
सब पूछ रहे ह दिगदिगन्त,
वीरो का कैसा हो वसन्त ?

फूरी सरसो ने दिया रग,
मधु लेकर आ पहुँचा अनग,
वधु-वसुधा पुलकित अग अग,
हैं वीरवेश में किन्तु कन्त
वीरो का कैसा हो वसन्त ?

भर रही कोकिला इधर तान,
मारु बाजे पर उधर गान,
हैं रग और रण का विधान,
मिलने आये ह आदि अन्त,
वीरो का कैसा हो वसन्त ?

गलवाहें हो या हा कृपाण,
चल चितवन हो या धनुष-त्राण,
हो रम-विलास या दलित-त्राण,
अब यही समस्या है दुरन्त,
वीरो का कैसा हो वसन्त ?

कह दे अतीत अब मौन त्याग,
 लखे तुझमें क्यों लगी आग ?
 ऐ कुरुक्षेत्र ! अब जाग जाग,
 बतला अपने अनुभव अनन्त,
 वीरो का कैसा हो बसन्त ?

हल्दी घाटी के शिलाखण्ड,
 ऐ दुर्ग सिंहगढ़ के प्रचण्ड,
 राणा नाना का कर घमण्ड,
 दो जगा आज स्मृतिर्या ज्वलन्त,
 वीरा का कैसा हो बसन्त ?

भूपण अथवा कवि चन्द नहीं,
 विजली भर दे वह छन्द नहीं,
 है बल्म वैधी स्वच्छन्द नहीं,
 फिर हमें बतावे कौन हन्त ?
 वीरो का कैसा हो बसन्त ?

—सुभद्रा कुमारी चौहान
 १९०४—१९४८

हिमालय से

उत्तर के शृंगार !

प्रश्न - चिह्नो - जैसे ओ शृंगाकार !

पूछो इस भू - मण्डल से

यह किसने छुआ देग का द्वार !

किसका यह विश्वासघात है

जो गूजा सीमा के पार !

गंगा की धारा के ऊपर

कैसे वही रक्त की धार !

पूछो किसने मानवता की छाती पर गोली मारी ?

किसके पैरो ने कुचली है, भारत की सीमा सारी ?

क्या उत्तर मिल गया ?

चीन के दुस्माहम का मिला प्रमाण !

यह ममस्त इतिहाम हो गया

जैसे बिभकुल ही निष्प्राण ?

इस भारत ने सिखलाया था

जिसे तथागत का निवर्ण,

वही कर रहा राजनीति का

आज छद्मवेशी निर्माण ?

तुमने राका नहीं उसे, अपनी विन्तीण भुजाओं से ?

हो मध्यस्थ हिमालय ! तुम अपनी हिम-शृंग ध्वजाओं से ।

आज तुम्हारी क्षपथ !
 प्राण मे जाग उठी भीषण ज्वाला ।
 अरि - मुण्डो से पूण बनेगी,
 यह अपूण सी गिरि - माला ।
 भूमि - भाग का एक एक कण
 बना हुआ है अगारा ।
 शांति - दूत भारत ने है, फिर
 भैरव बन कर ललकारा ।

सुनो, आज यह देश, युद्ध - व्रत में बन गया समूचा है ।
 सैनिक का उत्साह, तुम्हारे हिम - शृंगो से ऊँचा है ।

आज तुम्हारी दृढ़ता से भी
 अधिक सुदृढ़ता पाइ है ।
 जो चिनगारी सोइ थी
 वह ज्वाला बनकर आइ है ।
 कौन शत्रु सम्मुख होगा ?
 यह महानाश की वाणी ह ।
 रक्त - तिलक मस्तक पर देकर,
 सैनिक प्राणी - प्राणी है ।

तुम साक्षी रहना, हिमगिरि, हुकार सत्य ने दे दी है ।
 दानव के मस्तक पाने को यह रक्तभरी बलिवेदी है ।

किसने कहा कि तुम जड़ हो
 क्या तुममें है कंलास नहीं ?
 क्या प्रलयकर के डमरू से
 नाचा कण कण में नाश नहीं ?

वह महाप्रलय फिर से होगा,
होगा विनाश प्राचीरो का।
क्षण भर प्रलयकर स्के
घोष होगा भारत के वीरा का।

ससार सुनेगा शीघ्र कायरो का स्वर कितना धीमा है।
यह तुम हिमालय आज हमारे छाती की दृढ़ सीमा है।

—रामकुमार वर्मा

जन्म १९०५

मैं गायक हूँ स्वच्छन्द हिमाचल का

मैं पथिक सदा प्यासा गगाजल का ।

गिरिराज हिमालय मेरा है प्रहरी
प्रेमाञ्जलि मेरी सागर की लहरी,
मेरी मधुर उमंगें वन की कलियाँ
ये ग्राम नगर मेरी जीवन गलियाँ,
मैं इसी देश की मिट्टी का पुतला
इसको जिसने कुचला, मुझको कुचला,

मेरी स्नेहमयी आँखों में देखो
श्यामल यमुना का निमल जल छलका ।

मेरी जीवन - ग्रन्थि प्रेम के बंधन
मेरा जीवन साध्य नहीं, है साधन,
मेरा व्रत मानवता का आराधन
मेरा श्रम चिन्ता सागर का मथन,
सदियों से मैंने जीवन ज्योति जगाई,
जग वन में आगा की बेलि लगाई ।

दुनिया मेरा मदेश सुना करती
मैं गायक हूँ स्वच्छन्द हिमाचल का ।

यह वह देश का सूर्योदय उज्ज्वल
भरता मुझमें नवजीवन का मन्थल,
सूर्यास्त मिथ का वर्ण अरण मुंदर
घर जाता दीप जलाकर मेरे घर,

मैं उत्तर दिशि के हिम से हूँ शीतल
मैं दक्षिण दिशि के थोको से चचल,

हूँ लोट रहा जनपद के चरणों में
मैं मलय पवन सुरभित विध्याचल का ।

जग के वन में गूजी मेरी बोली
कर रहा स्नेह की म खाली झोली,
मैंने फूँके प्राण कला के तन में
प्रतिमा रख दी जग के सूने मन में,
मने सागर में नावें दौड़ाईं
लहरियाँ चरण मेरे धूने आईं ।

मैंने उनको उठा किया आलिंगन
म खड़ा कूल हूँ सागर चचल का ।

नगरो में जीवन दीप जला करते
ग्रामा में वधन मुक्कन चला करते,
हम शान्त, रसिक, भोले भारतवासी
आजादी है जिनकी कावा बासी,
वह मेरा देश, जहाँ हल्दी घाटी
मने दिन रातें आखो में काटी ।

म आज मुक्ति की ओर बढ़ा जाता
दामन थामे दुनिया की हलचल का ।

अनुराग यहाँ विश्वास बना करता
 पतझार यहाँ मधुमास बना करता,
 रण-मरण यहाँ उल्लास बना करता
 वलिदान यहाँ इतिहास बना करता,
 मैं फूलों का मधुप नहीं दुनिया में
 मैं तो कर में अपना मस्तक धामे।

चाहे रण का, रस का, पावस का हो
 मैं तो चाहक हूँ काले बादल का।

—गोपालसिंह नेपाली
 जन्म १९०६

भारत की यह परंपरा है—
जब नारी के बालों को खींचा जाता है,
धमराज का निहामन ढोला करता है,
शुद्ध भीम की भुजा फड़कती,
वज्रधोप मणिपुष्पक औ' सुधोप करते हैं,
गाढीव की प्रत्यक्षा तडपा करती है,
बहने का तात्पर्य,
महाभारत होता है,
अगर कभी झूठी ममता,
दुर्वलता, किंकर्तव्यमूढता
व्यापा करती,
स्वयं कृष्ण भगवान् प्रकट हो
असदिग्ध औ' स्वतः सिद्ध
स्वर में कहते,
'युध्यस्व भारत।'

भारत की यह परंपरा है—
जब नारी के बालों को खींचा जाता है,
एक महाभारत होता है।
तूने भारत को केवल
रेखाश और अक्षांश जाल में
बद्ध चित्रपट समझ लिया है,
जिसकी कुछ शीर्षस्य लकीरें,
जब तू चाहे, घटा - मिटाकर
अपने नक्शे में दिखला ले ?

हथकड़ियाँ कड़कड़ा, वेडियो को तटकाकर,
 अपने बल पर मुक्त, खड़ी
 भारत माता का
 रूप विराट
 मदाघ, नहीं तूने देखा है,
 (नशा पुराना ज़ुद नहीं उतरा करता है।)
 और न अपने भौतिक दृग से देख सकेगा।
 आकर कवि से दिव्य दृष्टि ले।
 पूरब, पच्छिम, दक्षिण से आ
 अगम जलभर, उच्छल, फेनिल
 हिंद महासागर की अगणित
 हिल्लोलित, कल्लोलित लहरें
 जिन्हें अहर्निश
 प्रक्षालित करती रहती है,
 अविरल,
 वे भारतमाता के
 पुण्य चरण हैं—
 पग-नखाग्र क्या कुमारिका-मंदिर शोभित।
 और
 पूरबी घाट, पच्छिमी घाट
 उसी के पीन, पुष्ट, दृढ जघ-माट है।
 विध्य-मेखला बसी हुई है कटि प्रदेश में।
 वक्षस्थल पर गंगा-जमुनी हार भूलता—
 कोसल - ब्रज की
 दुग्ध - धार से
 राम - कृष्ण - बल - बभ्रु सिंचित,
 शिव - धनु सडित,
 रावण मर्दित,

इद्र विनिदित,
 कस विलुठित—
 व्यास कठ में !
 दक्षिणाक्ष में
 खड्ग और जीहर ज्वाला का
 राजस्थानी महामहस्यल दीप्तमान है।
 चाम चाहु आशोप और आरक्षण का
 आश्वासन बनकर ब्रह्मपुत्र तक
 फैल रहा है,
 जिसके नीचे
 लक्ष : लक्ष हल
 गीतो की लय-गति पर चलकर
 भू का अचल
 करते घानी, करते पीला,
 और देख वह
 भाल दिव्य, हिम-शुभ्र, सजीला,
 जिसके ऊपर कश्मीरी केशर क्यारी का
 चौर लगा है,
 औ' हिंदूकुश और हिमालय की
 जो मघन शिला - बल्लरियाँ
 उत्तर - पच्छिम, उत्तर - पूरब
 दूर = दूर तक
 छछडो, छिटकी, बिखरी, फैली,—
 अमरनाथ - गौरीशंकर - कैलाश विचुंबित
 वे भारतमाता के कंधो पर अवलंबित
 उसकी अलकें, नाग लटे हैं वेणी-चोटो,
 जो कि हमारी जीवित संस्कृति परंपरा में
 नारी के गौरव के

सब से शीघ्र चिह्न है,
 जिनकी लाज बचाने को,
 इज्जत रखने को,
 मूल्य बड़ा से बड़ा
 चुकाने को हम उद्यत।
 (फिर चालीस कोटि की मा की
 भव्य लटा की !)

तूने आज इन्ही को छोड़ा है,
 खीचा है
 किसी नशे में तू अपने से
 बाहर चला गया है,
 समय इसीलिए हम
 साध रहे हैं।
 तुझे नहीं मालूम कि तूने
 कितना भीषण और भयावह
 काम किया है !
 फिर कहता है,
 भारत की यह परंपरा है—
 जय नारी के बालों को छोड़ा जाता है,
 धर्मराज का सिंहासन डोला भरता है,
 क्रुद्ध भीम के दाहु फड़कते,
 वज्रनाद मणिपुष्पक औ' सुधोष बरते हैं,
 गाड़ीय की प्रत्यक्षा बढका भरती है,
 बहने का तात्पर्य,
 महाभारत होना है,
 अगर कभी थोथी ममता,

दुर्वलता, किंकर्तव्यमूढता
व्यापा करती,
स्वयं कृष्ण भगवान् प्रकट हो
असदिग्ध ओ' स्वतः सिद्ध
वाणी में कहते,
'उत्तिष्ठ युध्यस्व भारत ।'

—हरिवंशराय 'बल्लभ'

जन्म १९०७

पृथिवी

श्यामला, सजला, शुभा, सुमना, सुभग सुकुमार
समधरा, मेधाम्बरा, विश्वभरा, सुख - सार,
शाश्वती, शस्यावती, सौदय - सुपमागार
सुस्मिता वसुधा सुधा - स्निग्धा अतीव उदार,

है कहाँ वह एपणा-अभिसार ?

मजुला जिसके हृदय में प्रीति का गुजार
वत्सला वह जो कि देती नित नये उपहार,
माधवी वह जो कि करती सतत मधु-संचार
दृष्टि ही जिसकी अमृत की वृष्टि प्राण - फुहार,

है कहाँ वह भव विभव भाडार ?

वह विधित्ता जो कि जीवन - वीन की झकार
वह निरीक्षा जो लिये रहती सुयश - विस्तार,
वह प्रतीक्षा गूँथती जो निमिष - पल के द्वार
वह तिनिक्षा जो सँभाले सजल - सेवा - भार,

है कहाँ वह साधना साकार ?

वन्द जिसके एव वण में कोटि - कोटि विचार
मृत्तिका में प्राण, प्राणो में नया ससार,
भावनाओ में जिसे पाया उठाने ज्वार
ऊर्मियो के बीच देगा खोलते युग - द्वार,

है कहाँ वह भाव भूमि अपार ?

स्पश से जिसने वजाये सजना के तार
 सात स्वर जिसने सजाये, सात वन्दनवार,
 दीच में अपने सही अचल अनन्त पसार
 आरती - सी वारती लौ भारती - सी प्यार ।

हैं कहां वह धर्म-धृति-आधार ?

हैं कहां वह चेतना जिसके ज्वलित अंगार
 फौधते तम को हटा मानस - क्षितिज के पार,
 जो कही आहुति, कही यज्ञाग्नि का हुकार
 जो कही करुणा, कही तरुणा - तरंग - पुकार,

हैं कहां पृथिवी सृजन-शृंगार ?

—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

जन्म १९०७

हिमालय के प्रति

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

साकार, दिव्य, गोरख, विराट,
पौरुष के पुजीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरोट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

युग-युग अजेय, निवध, मुक्त
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान्,
निस्सीम व्योम में तान रहे
युग से किस महिमा का वितान ?

कैसी अम्बुण्ड यह चिर समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?
तू महा शून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान ?

उलझन का कैसा विषम जाल ?

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

ओ, मौन तपस्या लीन यती !
पर मर तो कर नयनोन्मेष,
रे ज्वालाओ से दग्ध विकल
है तडप रहा पद पर स्वदेग ।

सुखमिधु पच नद, ब्रह्मपुत्र
गंगा जमुना की अमिय धार,
जिस पुण्यभूमि की ओर वही
तेरी विगलिन वरुणा उदार,

जिसके द्वारो पर खड़े क्रान्त
मीमापति । तू ने की पुकार
‘पद दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार’ ।

उम पुण्यभूमि पर आज तपी ।
रे आन पडा सक्क कराल,
व्याकुल तेरे सुत तडप रहे
डँस रहे चतुर्दिक विविध व्याल ।

मेरे नगपति । मेरे विशाल ।

कितनी मणिया टुट गई ? मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष ।
तू ध्यानमग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेग ।

किन द्रौपदियो के बाल खुले
किन-किन कलियो का अन्त हुआ,
कह हृदय खोल चित्तोर । यहाँ
कितने दिन ज्वाला बसन्त हुआ ?

पूछे, सिक्ता वण से हिमपति !
 तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
 वन वन स्वतंत्रता दीप लिये
 फिरने वाला बलवान कहाँ ?

तू पूछ अवध से राम कहाँ ?
 वृंदा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
 ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ?
 वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

पैरो पर ही है पड़ी हुई
 मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
 तू पूछ, कहाँ इसने खोई
 अपनी अनंत निधिया सारी ?

री कपिलवस्तु ! वह बुद्ध देव
 के वे मङ्गल उपदेश कहाँ ?
 तिब्बत, इरान, जापान, चीन
 तक गये हुए सदेश कहाँ ?

वैशाली के भग्नावशेष से
 पूछ, लिच्छवी ज्ञान कहाँ ?
 ओरी उदाम गण्डकी ! बता
 विद्यापति कवि के गान कहाँ ?

तू तरुण देश से पूछ अरे
गूँजा यह कैसा ध्वस राग ?
अम्बुधि-अन्तस्तल बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग ?

प्राची के प्राङ्गण बीच देख
जल रहा स्वर्ण-युग अग्नि-ज्वाल,
तू सिंहनाद कर जाग तपी

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

रै रोक युधिष्ठिर को न यहा,
जाने दे उसको स्वर्ग धीर,
पर, फिरा हमें गाण्डीव-गदा
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर,

बह दे शक्कर से, आज करें
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार ।
सारे भारत में गूँज उठे
'हरहरबम' का फिर महोन्चार ।

ले अँगड़ाई, उठ, हिले घरा,
कर निज विराट स्वर में निनाद,
तू शैलराट् । हुकार, भरे
फट जाय कहाँ, भागे प्रमाद ।

तू मौन त्याग कर सिंहनाद,
रे तपी आज तप का न काल !
नवयुग - शख ध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल !

मेरी जननी के हिम किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नवयुग शख ध्वनि जाग रही
जागो नगपति ! जागो विशाल !

—रामधारीसिंह 'दिनकर'

जन्म १९०९

सितारे कूद जायेंगे

जुड़े बैठे हाथियों की पंक्ति-भी
आकाश - धरती के अँधेरो बीच
व्योम का उजला, अवनि का गहन किंचित्।
और भी गहरे तिमिर की रेख - घीलाधार।

इधर के टीले-पहाड़
रात के गहरे अँधेरे पानिया में डूब गुम हैं।
भील-सी यह लग रही है बाधरी'
गहरे घुएँ की,
या घने नीलाम जल की
साँझ, बाले बादलो ने छीन ली हो जाम जिमकी।
वस्त्रियाँ बालून' की ह, विम्ब ज्या
नभ के सितारों का,
इशारा का।

शुक्र गज की पीठ पर बैठा जमा
ज्योति की किञ्कारिया सी फँकता है।
भुक्र रहे हैं सप्त ऋषि 'उतरो हमें भी बैठने दो।''
और अनगिन तारों में होड़-बैठें
हाथियों की पीठ पर।

लग रहा है—

अभी यह गजपंक्ति उट्ठेगी

सितारे कूद जायेंगे।

—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

जम १९१०

१ इलहौडा का एक नाला जिसके नाम से घाटी प्रसिद्ध है।

२ इलहोदी छावनी।

पर्वत तटो

नाना तरु-बेलि-लतामय पर्वत पर निजन वन था,
निशि बसती थी भुरमुट में वह इतना धीरे-सधन था।
पत्तो से छन छन कर थी आती दिनकर की लेखा,
वह भूतल पर वनती थी पतली सी स्वर्णिम रेखा।
लोनी लोनी लतिका पर अविराम कुसुम खिलते थे,
बहता था मारुत, तर दल धीरे धीरे हिलते थे।

चह-चह-चह फुदक फुदक कर डाली से उस डाली पर,
गाते थे पक्षी होकर योछावर वनमाली पर।
चर कर पगुराती मा को, दे सींग ढकेल रहे थे,
कोमल कोमल घासो पर मृगछीने खेल रहे थे।
अधसुले नयन हरिणी के मृदुकाय हरिण खुजलाते,
झाडी में उलझ उलझ कर वारहसिंघे अकुलाते।

चीते नहें शिशु ले ले चलते मयूर चालो से,
श्रीडा करते थे नाहर अपने लघु लघु बालो से।
भरनो का पानी ले कर गज छिडक रहे मतवाले,
माना जल बरस रहे हो सावन घन बाले बाले।

—श्यामनारायण पाण्डेय

जन्म १९१०

पाद्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
 डगर चटनी उमगो सी।
 बिछी पंरो में नदी ज्यो दर्द की रेखा ।

विहग - शिगु मौन नीड़ा में
 मने आस भर देवा।
 दिया मन को दिलासा - पुन आऊँगा।
 (मले ही वरम-दिन-अनगिन युगा के बाद ।)

जिनिज ने पलक-सी खोली,
 तमक कर दामिनी बोली—
 'अरे यायावर ! रहेगा याद ?'

—सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'
 जन्म १९११

क्योंकि हम सब जहा भी हैं
 अब मोर्चे पर ह
 एक ही धुन हैं एक ही ध्यान हैं
 एक ही ज्ञान
 कि हम उत्तुंग हिमालय हैं
 और हम उत्तर को बढ़ रहे हैं
 यह धरती करवट ले रही हैं ।

सुनो माओ
 तुम भी अगर कवि हो
 तो सोचो
 मन्दिर हैं प्रत्येक मनुज धरती पर
 उसकी धरती ही उसकी बेदी हैं
 तुम किमको गिरा रहे हो सोचो ।
 अपनी धरती की मिट्टी का नास कर रहे हो
 हमारी घाटिया में
 जाओ बहुत खो चुके
 जन मरजाद
 अब चेतो
 चेतो
 चेतो
 अब भी ममय हैं ।

दिव-लोव में चीनी दीवार न उठाओ
 वहाँ सब कुछ गल जाता है
 मिवाय सन्चाइ की उज्ज्वलता के ।

उसी श्रद्धा से आओ
जिससे अब तक सदियों से आते रहे हो
नहीं तो
नहीं तो
असत्य कहीं नहीं ह
तुम कहीं न रहोगे ।

शक्ति आकार में नहीं है
सत्य में है
हमारी शक्ति
सत्य की विजय
उसी एक धारणा की विजय है जो आज
सचेत रूप में
हम ह
याद रखो

सत्यमेव	जयते	।
सत्यमेव	जयते	।
सत्यमेव	जयते	।

—शमशेर बहादुर सिंह
जन्म १९११

वादल को घिरते देखा है

अमल घवल गिरि के शिखरो पर वादल को घिरते देखा है।
छोटे - छोटे मोती जैसे अतिशय शीतल वारि - कणो को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम - कमलो पर गिरते देखा है।
तुग हिमाचल के कंधो पर, छोटी - बड़ी कई भीलो के,

श्यामल, शीतल, अमल सलिल में
समतल देशो से आ - आकर
पावस की ऊमस से आकुल,

तिक्त मधुर विस-तन्तु खोजते, हसा को तिरते देखा है।

दुग्ध वर्फानी घाटी में
शत - सहस्र फुट उच्च शिखर पर
अलस नाभि से उठने वाले
अपने ही उमादक परिमल
के ऊपर घावित हो - होकर

तरल तरुण वस्तूरी मृग को अपने पर चिढ़ते देखा है।

शत - शत निर्भर - निर्भरिणी - कल
मुखरित देवदारु - कानन में

शोणित - धवल भोजपत्रो से छापी हुई कुटी के
रग - विरगो और सुगन्धित फूलो से बुन्तल को साजे,
इंद्र नील की माला डाले शख-सरीखे सुपड गले में,
धानो में कुवलय लटकाये, शतदल रक्त-कमल बेणी में,
रजत रचित मणि-मंचित बलामय पानपात्र द्वाक्षासव पूरित,
रखे सामने अपने-अपने लोहित चंदन की त्रिपदी पर,
नरम निदाग वाल वस्तूरी-मृग-छाला पर पल्यो मारे,
मदिराखण आँखा वाले उन उमाद विघ्नर विघ्नरियो की,
मृदुल मनोरम अगुलियो को यणी पर फिरते देखा है।

—नागार्जुन

जम १९११

आज पहली बार

१

आज पहली बार जग ने
नमितशिर देखा
नगाधिप को ।

विषय ! — आज जग ने
अजरता की भुर्रियाँ देखी ।
व्यतिराम ! — आज पहली बार देखा
शिशिर में यह द्रवण
हिम के हृदय का ।

चकित, विस्फारित दृगो से
देखता है स्तब्ध हो ससार
पहली बार
पार्थिव शुभ्रता के वक्ष पर अभिनीत
मानव भायतामा का विवर्तन,
सत्य का सहार
शिव के हास की अट्टालिका में ।

२

पहेली है जगत की दृष्टि में,
पर दृश्य है कुछ और ही इस ओर—
पहली बार
नगपति ने नमित कर शीश
देखा स्नेह से उस भूमि को
जो छत्रछाया में पली युग-युग अमय, आश्वस्त ।

पहली बार

अवसर दे रहा है आज हिमाद्रि उदार

भारतभूमि को प्रतिदान का ।

x

x

x

वैसा विषय ? किस नियम का हूँ व्यक्तिगत

—सहज मानव घम में ?

—बालकृष्ण राय

जन्म १९१३

यह नई घरा, आकाश नया,
 यह नया लोक मिल गया मुझे,
 धी आत्मा जिमके दिन अद्यान्त
 वह शान्तलोक मिल गया मुझे।
 कोमी की हरित भरित घाटी
 करती है सुख से शान्त शयन,
 प्रहमिन सकुचित गान शोभित
 नव-धान-वरन परिधान पहिन।
 सिरहाने रक्वा शीघ-मुकुट
 वह कहलाता है कौमानी।
 जिमके कारण कहलाती वह
 कूर्मचिल नर की पटरानी।
 यह गिरि गिरिजा कौसानी की
 नामने पडा शिव का पडाव,
 कौमानी और हिमालय में
 तिलभरन परस्पर उर दुराव।
 ज्यो हरे रेशमी दामन सी
 घेरे उवर घाटियाँ पढी,
 कुछ मुक्त नील अल्को सी
 जिन पर पढी हुईं ह निम्बरिणी।
 नन्दादेवी के तुंग शिखर से
 देख देख शोभा शकर
 हो गए हिमालय में विजडिन
 तज ताण्डव नर्तन प्रलयकर।

१ अन्मोहे के निकट रम्य पवनीय स्थल

धिर आए उमड़ घुमड़ वादल,
 पवत प्रदेश में ऋतु पावस।
 ढँक गया व्योम, छिप गया सूय
 हो गई दिवस में ही मावस।

कर साय-साय चल पड़ी पवन,
 कापा पल में पवंत का वन,
 पशु पक्षी खोज खोह-कोटर
 भागे ले घुप घुप करता मन।

बातर हो तुरत बराह उठे
 वे ऊँचे ऊँचे बटे चीड़,
 हिल गए बाँज ओ' देवदारु
 उड़ती चिड़ियाँ तज ध्वस्त नीड़।

कड़-कड़ चढ़-चढ़ टूटते पेड़
 करती बीसानी क्षति-नृत्य,
 विद्युत् से प्रतिविम्बित, नर्तित
 छाया प्रेतों से दास-भृत्य।

दे पद-प्रहार घनाद - ताल
 नाचती मत्त काली बराल,
 लो, तड़क गया नभ इस्पाती
 नेत्रों से निकली तड़ित-ज्वाल।

* * *

पल में हो गई प्रतिष्ठित अत्र
 वह गतिमूर्ति तापसी उमा,
 पल में आकाश घरा निगरे
 बिखरी दग दिशि म्वर्गित सुपमा।

वन गया हिमालय हेमकूट,
 घन म्वणपत्र से ठौर ठौर,
 बाती है हंसमुख मांझ उपा-
 ज्यो ओडे रग वाली पिछौर।^१

फिर मिली की झनकार हुई
 कठकोड़े को संगीत मिला,
 कुहकी निज पके हुए स्वर में
 उत्तरामण्ड की पिक प्रमिला।

नम ज्यो यागी मा निमल चित,
 है घरा मौन ज्यो चित्त भक्ति,
 बापू के श्री मुख से निकला—
 'मनकम, बहिमा, अनासक्ति।'^२

—नरेन्द्र शर्मा

जन्म १९१३

१ पीली जमान पर साल छोट की ओड़ना, जिसका अल्मोडा प्रदेश में बहुत चलन है।

२ 'अनासक्ति-याग' के नाम से गीता का भाष्य, गाथा जी ने कीमानी ही में दिया।

हिमालय-अभिधान

हर कदम पर प्रकृति का परिवेश दिव्याहार,
हर कदम पर नयन मोहन सृष्टि का शृंगार।
खड़ा गर्वोन्नत लिए शिर एवरेस्ट विशाल,
हिमाच्छादित गगनचुम्बी चोटियाँ विकराल।

कही सुंदर और परतीले उनीले मेघ,
कही नन्हें हिमवणो से बने कुतल मेघ।
कम घने भी, अति घने भी, लाल पीले मेघ,
शीघ्र ही भयुक्त होने, बिलग होते मेघ।

कभी बर्फीले शिखर से उफन उठती भाप,
बाधु मण्डल पर चढ़ाती सघनता के चाप।
कभी जल-सीवर हिमानी बेग से एकत्र,
गगन में घिर फैल जाते दौड़ कर सबत्र।

घिरे रहते टपक पड़ते घुमड मूसन्धार,
परो में या धारियो मे शुभ्र विपुलाकार।
कभी कुजर कुज मथर पवन से सम्पूक्त,
स्वर्ण-मृग-से चीन्डी भरते उछलने द्रुप्त।

ठोस नीचे और ऊपर कुण्डलित घन गोल,
गूथता का नील अञ्चल फरफराता डोल।
कपिल पिंगल तेश मोठे शिखर गुण्डाकार,
बर रहे दुग्म्यता का शून्य में प्रन्तार।

गिरि-शिखर पर अगुमात्री का मुकुट छविमान,
 दहकना आदर्श का वह क्षितिज गरिमावान।
 गहगहाना बट रहा टक्कन धरा का तोड़,
 पवनपत्नी ग्रेसियर वह पर्वनों को फाड़।
 गति-विरोधी कष्टको, लघु क्वथों को लील,
 वज्रदन्ती तीक्ष्णता से पथ बधुर छील।

चल रहे शनि, शुक्र, बृश्चिक, बृहत् उल्का पिण्ड,
 सुरंग पुच्छल, लुब्ध दुग्धक, गोल पृथ्वीपिण्ड।
 चल रहे पल, पहर, घण्टा, घड़ी, निमि, दिन, मास,
 वर्ष युग के मान चलते राशि चक्र प्रकाश।

—राम इकबाल सिंह 'राकेश'

जन्म १९१३

कालिदास से

तरल तारको के मोती का सार तुम्हारी वाणी,
कोटि कोटि प्यासे हृदया की तृप्ति बनी कल्याणी।
महादेश के ज्योति पुज तुम सपनों के वरदानी,
नाम तुम्हारा सुनते ही उठता मस्तक अभिमानी।

तुम भारत की मुक्ति और वैभव के युग के दाता,
तुम कमलो से भरे महा सागर से सुख निर्माता।
हुइ सस्कृति सफल ममूची ओ कवि तुमको पाकर,
दीध साधना तप के फल सम देव गिरे धरणी पर।

द्रवित विवश नभ ने ले उच्छ्वास भूमि को देखा,
मौन तप्त जीवन में जिमके पिंची अमृत की रेखा।
पीच ठे गए थे रस भू का किरण तीर दिनकर के,
तुम सावन के प्रथम मेघ से तब अम्बर से भाके।

हिमकिरीटिनी मा के भाल बिंदु तुम दीप्त उजागर,
मरुत्अचला छवि शतदल विलासिनी की रस गागर।
अम्बर रूप पुज अविनाशी।

ओ अनन्त यौवन के स्वामी अलकपुरी के वासी।

—रामेश्वर शुक्ल 'अचल'

जन्म १९१५

आज देश की मिट्टी बोल उठी है।

यह वह मिट्टी जिनमें उपजे
ब्रह्मा, विष्णु भवानी।
यह वह मिट्टी जिने
रमाए फिरते शिव वरदानी।

यह तेरी सम्यता सस्कृति
इन पर ही अवलम्बित,
युगा युगों के चरणचिन्ह
इनकी छाती पर अकिन।

मुक्ति इसी की मधुर कल्पना
दर्शन नव मूल्यांकन,
इसके कण कण में उलझे हैं
जन्म - मरण के बंधन।

रोमपुलक वनराजि, भावव्यनन
कल कल ध्वनि निम्कर,
घन उच्छ्वास, श्वास क्रमा
नव-आ-उभार गिरि-शिखर।

मिथु चरण धोकर कृतार्थ
अचल यामे छिनि-ज्वर।
चन्द्र-मूर्य उपकृत निशिदिन
कर-किरणा से छू छू कर।

कालिदास से

तरल तारुको के मोती का सार तुम्हारी वाणी,
कोटि कोटि प्यासे हृदयो की तपति बनी कल्याणी।
महादेश के ज्योति पुज तुम सपनों के वरदानी,
नाम तुम्हारा सुनते ही उठता मस्तक अभिमानी।

तुम भारत की मुक्ति और वैभव के युग के दाता,
तुम कमलो से भरे महा सागर से सुख निर्माता।
हुइ ससृष्टि सफर समूची ओ कवि तुमको पाकर,
दीध साधना तप के फल सम देव गिरे धरणी पर।

द्रविण विवश नभ ने ले उच्छ्वास भूमि को देखा,
मौन तप्त जीवन में जिसके सिन्धी अमृत की रेखा।
खींच ठे गए थे रस भू का शिरण तीर दिनकर के,
तुम सावन के प्रथम मेघ से तब अम्बर से भाँके।

हिमकिरीटिनी माँ के भाल-विन्दु तुम दीप्त उजागर,
मग्न अचला छवि शतदल विलासिनी की रस गागर।

अक्षर रूप पुज अविनाशी।

ओ अनन्त जीवन के स्वामी अलकपुरी के वासी।

—रामेश्वर शुक्ल 'अचल'

जन्म १९१५

आज देग की मिट्टी बोल उठी है।

यह वह मिट्टी जिसे उनने
ब्रह्मा, विष्णु नदानी।
यह वह मिट्टी जिने
रनाए छिने गिव बरानी।

यह तेरी सम्पत्ता सन्धति
इस पर ही अवलम्बित,
युगा युगा के चरणचिन्ह
इसकी छाती पर अंकित।

मुक्ति इसी को मनु कल्पना
दर्शन नव मूल्यांकन,
इसके बग बग में उगने हैं
जन्म - मरण के बज्रन।

रामपुरक बनराजि, नावन्धजन
कल कल ध्वनि निरग,
धन नच्छवान, स्वाम भूमा
नव-आ-उमार गिरि-गिन्वर।

मिथु चरण धोकर कृतांग
अचल धामे छिनि-जवर।
चन्द्र-मूर्य उपकृत निमिदिन
कर-किरणा से छू छू कर।

अतस्ताप तरल लावा
 बरबट भूचाल भयकर,
 अँगड़ाई कल्पात
 प्रणय प्रतिद्वन्द्व प्रथम मचन्तर।

बिस उपवन में उगे न अकुर
 बन्नी नही मुसकाइ,
 अन्तिम शांति इसी की
 गोदी में मिलती है भाइ।

—शिवमगल सिंह 'सुमन'
 जन्म १९१६

रसमय हिमालय

थी पावती धरती जलती तप से निजल,
या महाकाल ज्यों समाधिस्थ निर्द्वन्द्व अचल,
सहसा शकृत अनग-घनु से शर छूट पड़े,
वन पचवाण के पुष्प वरसते थे ग्रादल ।

क्षण - भर घाटी की भँवरो में कर आवतन,
क्षण - भर शिखरों के उपलो का कर आलिंगन,
इस महाशून्य की डाली से क्षर-क्षर शाश्वत्
बह रहे पवन की धारा में ये मेघ-सुमन ।
क्षण वन दुकूल शृङ्गों का, क्षण परियों का पर,
वन देवदारु का वलय, वनों के बीच बिखर,
अधखुले नयन - नभ में तिर तिर बनते मिटते
यह कामरूप धन दिवा - स्वप्न के फूल सुघर ।

किसने फैलाया यह हरीतिमा का दुकूल
बँध पा न रहे जिन में पारद के जलद फूल ।

—शम्भूनाथ सिंह

जन्म १९१७

बरफ का चिराग

हिम के सफेद दीपक की लौ अब हुई लाल
सदियों से जमी हुई मिट्टी बन गई ज्वाल।

यह कमल घरा का वरफीला
यह झील कटोरा चमकीला
ठंडे खेतों का कुसुमबदन
केसर की झाड़ से पीला
लालिम चिनार के पेड़
घाटियों के प्रहरी
नभ के पर्दे पर
रेखा-छाह छपी गहरी।

उठ रही शैल मालाए
सदियों से जवान
हर मजिल खिंची हुई है
फूलों की बमान।

गोरे मुख पर उड़ता है
हल्का पवन चीर
है स्वर्ग एक कल्पना
सत्य है वादसीर।

सूरज सोने का फूल
चांद हिम का चिराग
उस दूध घुली मिट्टी से
अब उठ रही आग।

वनवर शमशीर उठी जनता
बजता परबत का नक्शारा
नदिया बिजली बन उतर पड़ी
हो गया लाल ध्रुव का तारा।

घरती के यह जन-फूल उठे वनकर मशाल
हिम के सफेद दीपक की लौ जब हुई लाल।

इन चदन की सीमाओं में
आ गया एक दुर्घट नाग
पड़ गया वरफ के आचल पर
मासूम खून का लाल दाग
यह महादेश का शुभ्र कलश
रहराया इस पर नव चेतन
जो जीवन मृत कँचुल सा था
वह आँखें खोल हुआ चेतन
गिरि में निमग्न मनु की आत्मा
जग उठ आइ कर सिंहनाद
पय की रज लेने उतर पड़ा
सिंहासन से सामतवाद।

आघात हुआ यह
अचल हिमाचल के तन पर
जग उनायक प्रलयकर
शकर के मन पर।
जो अग्नि ला रही है जग में
नूतन कृतांत
वह कर देगी यह विष भी
भस्मीभूत शांत।

चस इसीलिए धुक सका नहीं यह दग्ध भाल
हिम के सफेद दीपक की लौ अब हुई लाल।

—गिरिजा कुमार मायुर
जन्म १९१८

सुनोगे ?

सुनो,
चीड़ के सनसनाते हुए पेड़,
मेरी कहानी सुनोगे ?
यहा तुम खड़े हो
गगन में तने,
सिर उठाये हुए गव में,
गहराइयाँ झाकते से अतल की,
उधर सामने चोटियाँ हैं,
शिखर,
जो बरफ से घिरे हैं,
जो बादलो का हृदय चीर खुलते
कली से
अछूते, अचुम्बित—
शिखर जो अडिग ह, अगम हैं, महत् ह,
मनुज के अमिट स्वप्न - से,
लालसा - से
शिखर ये तुम्हारे सखा हैं युगा के,
पहली सुनह की किरन मुस्वरा कर,
मदा छेड़ जाती इन्हें भी, तुम्हें भी ।

ओ चीड़ के सनसनाते हुए पेड़
मेरी कहानी सुनोगे ?
वहूँ मैं ?
तुम्हें भी विकट जिंदगी की कथा सब
मुना दू ?
कि मैं लाँघना चाहता था अगम को

तडप थी कि
 दोने करो को बढ़ाकर पकड़ लू
 अभी चाँद - सूरज,
 कि मैं चाहता था सनी कुछ,
 बहुत-से बड़े स्वप्न थे
 इन हृदय में,
 नहीं थी, नहीं शक्ति ही कम नहीं थी
 उठे बाहुजों में,
 तडप थी बहुत किन्तु क्षमता नहीं थी—
 इसी में गम्ड के सभी पक्ष
 टूटे हुए हैं,
 विगत स्नेह की स्निग्ध हरियालियाँ
 आज
 धुलसी हुई हैं,
 खडिता मूर्तियाँ हैं,
 ओ चीड़ के पेड़,
 मैं हूँ मरस्यल,
 मैदान जलना हुआ-मा,
 पड़ा जो शिखर के चरण से बहुत दूर,
 जलता, सुलाना,
 अभी रात भी सामने घाटियों में
 अकेली पड़ी
 गिन रही तारिकाएँ,
 चुप - चुप अघेरा बिछा है
 उतरती हुई मोन पगडडियों पर।

तुम्ही बस,
किसी याद में जग रहे हो
मुखर हो,

सागर गरजता किसी बेवली का तुम्हारे हृदय में—
इसी से अभी चाहता था सुनाना
तुम्हें मैं—
सुनोगे ?
ओ सनसनाते हुए चीड़ के पेड़ !
मरुभूमि की भी कहानी सुनोगे ?

—नेमिचन्द्र जैन
जन्म १९१९

हिमालय से

बहुत दिनों के बाद
हिमालय तुझे देखकर
ऐसा लगता है
जैसे कोई अपना आत्मीय मिल गया ।
हृदय कमल में
आकुल - व्याकुल
वदी सौरभ आज मुक्त हो
देख - देख तेरी उज्ज्वलता
फैला दिग्दिगत में सासों
स्वय मिद अस्तित्व पा गया ।
तेरे ये काले घुघराले
अलक जाल नव वादल वाले
गध - अध नित नभ में पुलकित
मेरे ही सौरभ से सुरमित
इतना भी तू और जान ले
तेरे सुख की चिर समाधि यह
मेरे नव चेतन से मडित
यद्यपि तू विराट मैं सीमित ।
नभ करता शृंगार
भाल में चदन कुमकुम रोली
नव प्रकाश की नव विक्काम की
नव जागृति की नवयुग-सम्मत
विहग - विहग की बोली
उदयाचल को विरणमाल दे
नित्य प्रात में
सानु शींग पर स्वण मुकुट पहनाकर ।

और रात में
 स्नेह - सिक्न हो
 चाँद बिहँसता
 रस के स्वर बस बातें करता
 विरण कला के साथ
 मिनता के फलाता हाथ
 माधुरी से नहलाता
 तुझे सुलाता, तेरा मन बहलाकर
 तुझसे किसकी समता ।

करुणामय ।
 तेरी करुणा की
 स्नेहशीलता की द्रवता की
 लहरें यमुना - गंगा
 प्रकृति परी यह पाणि पल्लवा
 तेरे जल से मिचिन
 अतस्तल की तेरे धडवन
 शन शन जलधि तरंगा ।

राष्ट्र छत्र तू
 ऊँच मूल है मेरी इस माटी का
 मुझे याद है
 ज्ञान ध्यान सब
 तेरे घर घाटी का
 बनुन से है तेरे उपचार
 मजलना के अश्रय भाण्डार ।

किन्तु देगा मीत
 जानतायी की बन्धुपित जीत

प्रीति पर भीति चढी है
पाप युद्ध के जयघोषों की
ढफली जीवित मनुज चम से
फूली और मढी है।

शिखरों का उपहास
चतुर्दिक फैला हाहाकार
पाशविक बल का पारावार
अरे तू अब भी साधे मौन
विस्मृति के इन छल-पल्लवों में
तुझे झुलाता कौन ?

यही समय
तू सँभल खड़ा हो
महा गगन को थाम शीश से
अडिग चरण युग धरती पर धर
फैला निज प्रलम्ब बाहा को
अहे हिमालय करुणालय तू
अग्निल विश्व का आर्लिगन
हृदय लगाकर शीतल कर दे
ज्वालामय दानव चाहो को।

बड़े दनुज सिर चढे नाचते
सैन्य-शक्ति की माप जाचते
मानवता विल्लाती
शक्कर के शुभहास
सृष्टि-सरक्षण तेरी थाती।

यह कुमार सभव की बेला
छोड़ समाधि जाग अलबेला

सती वरण कर शिव सयासी
 उठ कल्याणो के कैलाशी
 भारत में चल रहा आज फिर
 देवासुर संग्राम
 तुम्हारा युग युग का अवधान
 देव-सरक्षण का अभियान ।

शीघ्र सजग हो
 बनो कर्मरत
 अब बयो, कंसी देरी
 आज नयी हो मेरी तेरी
 शक्ति - भक्ति की मगल फेरी
 दोनों की पहचान
 जाग उठ, जाग - जाग हिमवान !

—गंगाप्रसाद पाण्डेय
 जन्म १९१८

हिमवत अर्चन

तुम से पावन और उच्च कुछ भी पृथ्वी के पास नहीं था, इसीलिए पूजन करने की अभिलाषा जब हुई उसे प्रभु के चरणा की, तुम्हें उठा हाथों में कमलो की माला-सी, भूमि लग्न वह हुई भक्ति से गद्गद होकर !

उसी भाँति तुम स्वच्छ और निश्चल आँखों से देख रहे हो स्वर्ग-लोक की ओर ज्योति में, जहाँ वास करते प्रभु पृथ्वी के परमेश्वर, प्रभु आये या नहीं ग्रहण करने को तुम को, स्वर्ग-लोक हो अथवा नहीं जहाँ वह रहते, पर अपनी दृढ़ भक्ति और निश्चल श्रद्धा से, स्वर्ग-लोक का निरति-दिन चिन्तन करते करते तुम बन गये स्वर्ग से सुन्दर लोक स्वयं ही ।

तापस

बिखरा जटा खड़ा वह तापस, युग-युग से पवत के ऊपर ।

पूर्व दिशा की ओर चमकता उसकी रजत जटा पर दिनकर,
पश्चिम में बैठी है रजनी उसी जटा के नीचे छिप कर,

पूर्व दिशा में उमड़ रहे हैं उसकी जटा छोड़कर निझर,
पश्चिम में उसके बालों में लिपट रहे हैं व्याल भयकर,

पूर्व दिशा से अमृत बरसता, पश्चिम से विष झरता झर झर,
कटि पर उसके लहराते घन, चूर चूर तारे मस्तक पर ।

—स्व० चंद्रकुंवर घटवाल

१९१९—१९४७

हिमालय के तब आँगन में

शील में लगा बरसने स्वर्ण,
 पिघलते हिमवानों के बीच,
 खिलखिला उठा दूब का वर्ण,
 शुरु छाया में सूना कूल, देख
 उतरे थे प्यासे मेघ,
 तभी सुन किरणाश्वा की टाप,
 भर गयी उन नयनों में वात,
 हो उठे उनके अचल लाल,
 लाल कुकुम में डूबे गाल,
 गिरी जब इन्द्र दिशा से देवि ।
 सोम-रजित नयनों की छाँह
 रूप के उस वृन्दावन में ।

व्योम का ज्यो अरण्य हो शान्त,
 भगी शावक-मा अचल धाम,
 तुम्हें मुनि-क-या-सा घन कलात
 तुम्हारी चम्पक बाहों बीच,
 हठीला लेता आँखें मीच,
 लहर को स्वर्ण कमल की ताल,
 ममय कर पकड़ रहे गज बाल,
 तुम्हारे अतरीय के रंग,
 किरण फैग आती हिम - शृंग,
 हँसी जब इन्द्र दिशा में देवि ।
 सोम रजित नयनों की छाह,
 मलय के चदन वानन में ।

अश्व की बल्गा लो अब थाम,
दिख रहा मानसरोवर बूल ।।

गौर कंधो पर ग्रीवा डाल,
पूछते हसो के मे वाल,
स्वर्ग से दिखती है यह भील,
हिमालय लगता होगा पाल ।

तुम्हें वे यक्ष पत्नियाँ देख, करेंगी गीत सुना अनुबूल ।

तराई बन जब कर लो पार,
वही ह नगर ग्राम ओ' खेत,
वही तट की मधु बाहें डाल,
सो रही होगी यमुना रेत,

सौभ्रह्म गंगा-जल से विरण बलश फिर भर देंगे इस बूल ।।

बही क्षिप्रा में श्रद्धा एक
अघ्य दे गुनती होगी श्लोक,
रगमय एक लहर कर देवि,
माँग भर देना रय को राक,

गगन का श्रेष्ठि खड़ा है नील बहि में लिए भूर का भल ।।

पुष्ट चिटटे वपभी को देख
लगेगा दिन बन आया बैल,
चीर भूमा का उर आधार,
उगे सीता में जीवन बेल,

पुष्पप्रती पूर्यो को देना घाम, हँसे अचल के चावल पूल ।।

—नरेश कुमार मेहता

जन्म १९२४

हिम शिखर, निम्नर, नदी-पथ, चीड़-वन—
 मुक्त मन के लिए वधन हो गये।
 दृश्य से छन कर समाये आख में,
 आँख से मन में वसे, मन हो गये।
 नमन मेरा हिम-जलद-अभिपिक्त शृंगो को,
 नमन मेरा शान्त सध्यातीत रगा को।
 इन्द्रधनु के गुच्छ के गुच्छ जिन पर तैरते रहते,
 नमन मेरा अलकनन्दा की तरंगो को।

आँख भर देखा कहाँ आँख भर आयी।

अटकी ही रही दीठ।

वह हिमगिरि माल ढीठ।

मेरे ही आसू के भीने पट ओट छिपी,
देखता रहा जी भर दी नहीं दिखायी।

आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।

पक्ति - बद्ध देवदारु,

रोमिल, दल्य, दीघ, चार,

चंदन पर श्यामल कस्तूरी की गंध सी,
जलदो की छाया हिमशृंगो पर छायी।

आँख भर देखा, कहाँ आँख भर आयी।

शिखरो के पार शिखर,

विध कर दूग गये विखर,

घाटी के पछी सी, गहरे मन में उतरी,
बदरी-बेदारमयी मरकत गहरायी।

आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।

मैं वह क्यों नहीं हुआ

जिमने
हिम शिखरा की रक्षा में
पहला आघात सहा।
जिसके घायल तन से
चोड़ी चट्टानों पर
प्रथमवार
किसी गम सोते सा
रक्त बहा।
मैं वह क्या नहीं हुआ।

—जगदीश गुप्त
जन्म १९२४

हिमालय की याद में एक पत्र

सुनो

म जानता था एक दिन देखे हुए वे

वन, नदी, पर्वत

बड़ी तरार सैलानी हवा में भूमने जगल

दुपट्टे की तरह उड़ते हुए निर्भर

अनेको घाटियों के पार से आता हुआ वह स्वर पपीहे का,

अभी जो उड़ गया है बेतहाशा बरस कर मीला भरा बादल,

बटोरे की तरह चारों तरफ से घेरती सी चोटियाँ तिरछी

जरा से रास्ते के लिए सब कुछ तोड़ने वाली नदी की

तेज, लापरवाह, धाराएँ

ढलानों पर तराशी खेंतियाँ ऊँची दुबानो सी

अचानक झोपड़े, फिर गाँव, फिर कुछ लोग परिचित से

अकेली राह को सहसा जिला कर छोड़ देता जगली पाटल

ठहरने के लिए मजबूर करता पत्थरों में फूटता पानी

बरफ उजली, बरफ नीली,

बरफ मिट्टी मिली बेताब हाया में पिघलने को

बरफ बेदाग ढाला पर लहरियादार पानी सी

बरफ वह आगिरी, आजाद

ऊँची चोटियाँ पर दूर मञ्जिल सी

कि जिसको देख कर हम देर तक सामोश बठे थे

सभी कुछ याद आयेगा

कहेगा हम अभी भी हूँ,

जहाँ से तुम छूट कर, डूब कर, सामोश होकर

लौट आये थे

उसी पंजे हुए बेलोस पन में हम अभी भी हूँ,

जिसे तुम कह नहीं सकते महज महसूस करते हो
 उन्ही लाचार सी अनुभूतियों में हम अभी भी हैं,
 अगर यो सिर्फ आँखें फेरने से काम चल जाता
 तो फिर ऐं दोस्त, जी लेना बहुत आसान हो जाता
 मगर हम और हम जैसे
 कि जिनसे जिन्दगी की बात का मतलब निकलता है
 महज आसान रस्तों में मुलाए जा नहीं सकते
 तुम्हें फिर याद आएँगे !

बहुत बेचैन हैं फिर पंर उस सह्रानवर्दी को,
 तुम्हारे साथ में बीती फिजाएँ याद आती ह
 भुजाएँ फैल कर फिर भेट लेने को तडपती ह
 मुनो फिर वफ में भीगी हवाएँ याद आती हैं।

—विजयदेव नारायण साहो

जन्म १९२४

घाटी का बादल

पतला पडने लगा
दृष्टिरोधी वह परदा,
महसा मुखर हो उठी वह निश्शब्द सून्यता।
दीखे नहीं,
भगर चीड़ा ने सन्-सन् कर मदमाती गंधो वाले
पवन-सँदेसे भेजे,
भुरमुट में सहमी चिड़ियो ने
दवे कण्ठ से मुझे पुकारा,
दूर कही सुन पडा पहाड़ी गाने का स्वर।

धोडा - सा विश्वास लौट कर आया मुझ में।
दीख नहीं पडते ह,
पर इस गहन कुहा में
कितने ही जगली रास्ते आते-जाते
पथिका से अब भी सजीव ह,
अपराजित ह जिनमें चलने की आकांक्षा।

दीख नहीं पडता है सूरज
पर दो शिखरो बीच भर रही
दिव्य ज्योति-सी धूप धुइली।
नदियाँ नीचे चमक उठी रूपाडोरी - सी,
और दूधिया शीशे म से
मल्ल उठे ह वृक्ष बाँज के, पुल लोहे के,
धीरे - धीरे परतें बटने लगी धूम की
यहाँ - वहाँ पर

पिघले सोने के पानी-सी
घूप टपकने लगी
गाँव सिल गये फूल से ।

बादल जैसे आया वैसे लौट गया है
केवल कुछ बादल के पीछे छूटे टुकड़े
छायादार झाड़ियों में विश्राम कर रहे
जैसे घोरी-उजली गायें ।

एक अकेला चंचल बादल
चांदी के हिरने - सा घाटी में चरता है ।

—धर्मवीर भारती

जन्म १९२६

बदो न हिमालय हुआ, शिव-शिवर गिरा नहीं,
आक्षोद - सरावर में विदेश - विष्णु तिरा नहीं।
भारती नहनती रही अनवरत हेम - हार,
भू - मानस में अवतीर्ण बीजवर्षी विचार।

*

*

*

भौगोलिक सुविशाल देश का
शुभ्र हिमालय-शिखर तुषार-किरीट,
शिव-सुगंध से व्याप्त शान्ति-आकाश
चतुर्दिक

आत्म - ध्वनित ताण्डव का हास विलास।
कला - पावती की क्रीडाएँ हिमोद्यान में
आध्यात्मिक चापल्य शैल पर मेघ गान में
वादित वायु-मृदंग शांत कमनीय छटा पर
चमक-चमक उठती कविता रमणीय घटा पर
चंद्र-तूटिया हिम - शिखरो को चित्रित करती
निशि के नील वक्ष से तारक - कलियाँ भरती
पग्य खोलकर देवदार - वन में अप्सरिया—
शिव-मरिता में भरती सुरहित इन्द्र - गगरियाँ।

भूपर - ऊपर किरण - चरण स्वच्छंद तरंगित
ज्या जाग्रत प्राणात्मा करती मन को इंगित
सलिल-भीत से गुजित गिरि-निभरिणी भर-भर
उड़ती पवित्रवद्ध शत विहंगी रगविरगी सस्वर।

उत्तर के ममतल भूतल पर
गंगा-यमुना मिथु-ब्रह्मनद सदा प्रवाहित
मध्य भाग में विध्याचल की गैल - श्रेणियाँ,

उनके नीचे

दक्षिणात्य की कलामयी वक्त्रि वसुधा पर

वहती प्रणिपल

महानमंदा, ताप्ती, गोदावरी और कृष्णा, कावेरी ।

इन नदियों के नीचे तीनों ओर

उद्वेग्नि अम्बुधि-प्रवाह उद्दाम

पश्चिम पारम,

पूर्व ब्रह्म-भू

इसी मानमन्दिर का भारत नाम ।

—पोद्दार रामावतार 'अक्षय'

जन्म १९२५

हिमालय

मूर्तिमान गिव के स्वरूप सा अचल अवण्ड योग में लीन
अक्षय शक्ति और श्री-सयुत चिर पुराण और नित्य नवीन,
करता आत्मा की विभूति से आलोकित समस्त ससार
करता निज आनन्द-स्रोत का रसधाराओं में विस्तार ।

शक्ति शील सौंदर्य तेज, श्री विक्रम का अपूर्व अवतार
मानवता के हित जीवन का महिमापथ आदर्श उदार,
राजित है उत्तर आशा से ध्रुव-सा पवतराज विशाल
आदि अन्त्य ममाट विश्व का भारत का शाश्वत भूपाल ।

परुणा ने निज स्वर्णकरो में लेकर रवि का मुकुट महान
उन्नत मस्तक पर पहनाया, गा जीवन के मंगल - गान,
बिया तेज का तिलक भाल पर भर उर में अपूर्व आह्लाद
रोम रोम में जगा प्रकृति के उत्सव का सुंदर सम्वाद,

आतपत्र-सा रुचिर गीश पर राजित जिसके व्योम-धितान,
मसण रजत मेघों के मयूर चंबर डुलाता मृदु पवमान,
देवदार के दण्ड दीघ ले सहे शिखर कितने श्रीमान्,
सेवा में अविचल ओ' उत्सुक, शरणागत राज-य समान,

मधुर, मन्द, गम्भीर, स्वरा में निम्कर कर विरदावलि गान,
वरते वीरति प्रसार चतुर्दिक् तोषित बंदी वगै समान,
बोमल कर से दिव्य दिशायें वायु-व्यजन का मृदुल विलास
प्रतिपन्न कर हरती भूपति का धामन जनित रावल आयास ।

पूर्व और पश्चिम ती पवत भालायें युग बाहु समा
बाधाओं के ग्रिमगणों में बन कर मदा प्रवल् व्यग्रधान,
मदुल आ में रही पालती सुंदर निगु-गा भारतवर्ष
दुःखता का नाप बन गया सम्मृति का रमित उत्कर्ष,

पाहन के कठोर अंतर से प्रकटित हो मृदुभाव समान
 बनते कोमल कुसुम चरित का सुंदर और अपूर्व प्रमाण,
 सध्या के रजित मेघा के बनकर रजित चित्र विधान,
 रग-विरगो पुष्प प्रान्त ह इद्रघनुष के से उपमान।

हिम शिखरो की ज्योति समुज्ज्वल पावन करती जग की दृष्टि,
 निर्मल अंतर में मुनियो के करती दिव्य भाव की सृष्टि,
 निमल नीर भरी धारायें कर रसमय पवत के प्रात,
 करती जीवन के गीतो से गुजित वे निर्जन एकान्त।

राशि राशि रजित फूलों से भरी धाटियों के विस्तार,
 नन्दन के अवतार भूमि पर, फैलाते आमोद अपार,
 मादक गन्ध गन्धमादन की नर अनन्त आमोद विभूति,
 भवसागर के राजकमल की फैलाती सौरभ-अनुभूति।

सदा हरित जीवन के रस से देवदारु उन्नत सुविशाल,
 तूफानों में अचल गैल-से जग के प्रहरी उन्नत-भाल।
 भोज-वक्ष, जिनके पत्रों पर अंकित पुराचीन इतिहास
 डाल रहा है आज विश्व के जीवन पर निस्सीम प्रकाश।

कानन जोर बदराओं में जिसके करते नित्य निवास
 कस्तूरी मृग, सिंह, ऋक्ष, गज, चमरी धेनु आदि सविलास,
 गुञ्जित करते भयुगीतो से गिरि कानन के मजुल कुञ्ज
 पुष्पो-से अनन्त वर्णों से भूषित नित विहगा के पुञ्ज।

दिशा भूल कर दिक् दिग्भ्रम में यहा भटकती चारों ओर,
 भूल काल क्रम प्रकृत, मुक्त त्रम करता कलना काल कठोर,
 कला-वाच्य के मौलिक क्रम के वन स्वतन्त्र सुंदर विद्याम,
 करते हैं ऋतु-काल अलौकिक क्रम से यहाँ अपूर्व विलास।

अविचल तप के से प्रतीक वे शिखर शिला निश्चल निस्पन्द,
 मेघ प्रपातो के निस्वन में ध्वनित मद वेदो के छन्द,
 निभर सरिताओ के स्वर में बहते बहुमुख शास्त्र-पुराण,
 शुद्ध समीरण में सवाहित सहज तत्त्व का दुर्गम ज्ञान।

सदा समाधि-लीन शिव-सा ही अखिल विश्व का भगल मूल,
 जीवन और जग की विमूर्ति है इसके श्री-चरणों की धूल,
 ध्यान लीन दृग के कोटर से निःसृत वरणामृत की धार,
 भरती भारत के गृह-गृह में जीवन का वैभवभाण्डार।

उज्ज्वल तेज, वांछित महिमा से यह जीवन का ज्योतिर्दीप
 कर देगा चिर प्राप्ति मिद्धि में जीवन के सब इष्ट समीप,
 उमा और शबर के तप का योग-भूत यह पीठ महान
 तपोभूमि कर पद पद जग का, होगा ससृष्टि का वरदान।

—रामानन्द तिवारी

जन्म १९१९

हिमालय के आँसू

दद यह कैसा हिमालय ! आज यह कैसा रदन है ?
क्या हुआ जो सिसकियों के भार से बोझिल पवन है ?
गल रहा चट्टान का तन आज क्यों वनकर हिमानी ?
वध से मन में जगी कोई दबी पीछा पुरानी ?
आग से छल्ला हिमालय ! अश्रु जो पहला तुम्हारा ।
दे गया सहमा किसी भूचाल का मुझ को इशारा ।

बह चली नदियाँ उछल छल-छल, बिकल निम्कर चले हैं,
अश्रु जल है, पर, मुझे हर वद में शोले मिले हैं ।
प्राण की ज्वाला पिघल कर आँसुओं में ढल रही है,
आदमी के दद की कोई कहानी चल रही है ।
मैं न सुन पाता, मगर सबेदना सब सुन रही है,
अश्रु कितने गिन रही हैं, दाह कितना, गुन रही है ।

पड रहा हूँ मैं तुम्हारी वेदना की मूक भाषा,
दे गई है आग मेरे प्राण को तेरी पिपासा ।
और तेरे माथ मेरे गान गीते हो गए हैं,
राग भारी हाँ गए, जरमान गीले हो गए हैं ।
हा, मगर मैं स्वाभिमानी, दूग बहा पाता नहीं हूँ,
मत्प हूँ, रोकर हृदय का दर्द गा पाता नहीं हूँ ।

दाह कितना हो, विन्खना मैं न लेकिन सीख पाया,
पी गया जितना मिला, बिप, जोर पीवर मुस्कराया,
मैं समझना हूँ तुम्हारी पीर, प्राणों की विफलता,
धुल रहे तुम, पर हमारा दाह बहता है पिघलता ।
आँच तेरी है, मगर रोना दुखी समार इसमें,
रो रहा है धम इसमें, रो रहा है प्यार इसमें ।

तुम कि जो इस सृष्टि के सार चलन देखे हुए हो,
मास-वर्षों का, युगों का संचरण देखे हुए हो।
वह प्रथम मानव कि जिसने इस घरा पर आख खोली,
भर गया कितनी उमंगों से हृदय की रिक्त भोली।
तुम होंसे इतना कि तुमने यह धरित्री सींच डाली,
और पतझर ने तुम्हारे सामने ग्रीवा झुका ली।

पट गया हरियालिया से क्षुब्ध रेगिस्तान हारा,
बन गये ये तुम नियति के दूत! जीवन को सहारा।
चम के तन पर बसन, नर-दन्त-अस्त्रों का अहेरी,
डोलता फिरता गुंजाता नर-विजय की दिव्य भेरी।
एक-दो, दस-बीस, क्रमशः एक मेला जुड़ गया था,
आदमी का हाथ रचना की डगर पर मुड़ गया था।

साधना ऊपर उठी नक्षत्र नभ के तोड़ लाइ,
बम ने विषवा दिशा के भाल पर रोली रचाइ।
लालमाओ ने पवन की डाल पर भूला झुलाया,
आदमी आगे बढ़ा तो सिंधु सातो छान आया।
भूल जीवन की रहस्यों के किवार खोलती थी,
सम्यक्ता अपनी घरा पर मुक्त होकर डोलती थी।

और तब से रात-दिन ढलने रहे, मुग-वत्स धोते,
साजता आया चला इमान जीने के सुभीत।
एक अगुर था जहाँ, झुरमुट गुलाबों के खड़े ह,
सिर झुका धूँ में रोंद हुए नाट पड़े ह।
आधिया में दीप जीवन का कमल ना गिल रहा ह,
स्नग या आगन घरा की गजना से हिल रहा ह।

किन्तु तब मैं आज मैं कितना बड़ा अन्तर हुआ है,
आदमी भीतर घुना, बाहर भले उर्वर हुआ है।
भू-गगन बाँधे, उदधि बाँधा, दिशाएँ बाँध लाया,
एक अपनी ही पिषामा नर न अब तक बाँध पाया।

दो हृदय के बीच कितने भेद की दीवार आई,
शक्ति ने अपने लट्टू को रौंदने मेरी वजाई।

धर्म ने चाहा भ्रमित नर का अँधेरा पथ बदल दे,
कर्म ने चाहा हृदय की राह के काटे कुचल दे।
ज्ञान की गंगा बहो, इसके कलुष पर धुल न पाए,
अनसूनी कर बढ गया यह दम्भ की ग्रीवा उठाए।

राम का पौरुष जगा, घनश्याम की गीता जगी थी,
स्नेह का वरदान ले राधा जगी, मीना जगी थी।

बुद्ध गाँधी की तपस्या, सूर - तुन्सी का तराना,
खाल खिचवा दो इसे 'तवरेख' ने चाहा जगाना।
युद्ध - हिमा, पाशविकता का, घणा का जन्म न बदला,
चढ गए सूली सहज इमा मगर आदम न बदला।

निर्वसन तन पर वसन पर मन अभी तक निर्वसन है,
नग्न प्राणो पर न कोई भव्यता का आवरण है।

तर्क है, श्रद्धा नहीं, विश्वास का सबल नहीं है,
आदमी के पाम पावन प्यार का आँचल नहीं है।
रो रहे हो तुम हिमालय ! धाव कुछ ज्यादा हरे है,
सृष्टि के क्षव पर तुम्हारे जधु अक्षत - मे भरे है।

विजलिया की यह कड़क, वाली घटाएँ आ गई है,
चाँद - तारो पर निरागा की परत - मो छा गई है।

बुण्डली मारे तिमिर की सर्पिणी फुफकारती है,
 क्रुद्ध भ्रमावात, प्राणा की बुझी सी आरती है।
 पर हिमालय ! ओ पुरातन विश्व-मानव के पुजारी !
 व्यर्थ जाएगी नहीं संवेदना निश्छल तुम्हारी।
 आज भी मेरा बटल विश्वास, आएगा सवेरा,
 जगमगाएगा नये आलोक से आकाश तेरा।

—आनंद मिश्र

जन्म १९३३

हिमालय के प्रति

भारत के शीश हिमालय को,
है मेरा वारम्बार नमन।

सबसे पहले जिसके माथे पर—
सूरज तिलक लगाता है,
जिसके यश को सागर अपनी
अनगिन लहरा से गाता है,
जिसको ऊँचाई पर, मही क्या—
गर्वित भारतमाता है,

जननी के इस गौरव गिरि की
आरती सजाता नील - गगन।

जिसके चरणों पर धरती—
औं वाहा में गग-जमुन जल है,
जिसके नयनों का काजल ही—
उड़कर बनता बादल-दल है,
पवत कैसे कह दूँ इसको—
यह तो मेरा तीर्थस्थल है।

इस तीर्थ के दर्शन से ही—
मानस बन जाता है दपण।

यो तो इसने सबकी उन्नति
अपनी ही जैसी चाही है,
सबके संग सच्चाई औं
सुन्दरता की नीति निवाही है,
पर कभी किसी से झुका नहीं
इसका इतिहास गवाही है,

ऐसे गर्वोन्नत प्रहरी पर
न्योछावर मेरा तन-मन-धन।
भारत के शीश हिमालय को
है मेरा बारम्बार नमन।

—रमानाथ अवस्थी

जन्म १९२६

देवतात्मा जय हिमालय

शान्ति की साकार प्रतिमा
जय महानगराज जय जय !
देवतात्मा जय हिमालय !

दिव्य पुजीभूत गौरव तुम भारत भाल तुम हो,
चेतना की मूर्ति मङ्गल, मृण्मयी हिमज्वाल तुम हो।

लोक का आलोक उज्ज्वल
तुम शिखर हो स्वर्ण छविमय !
देवतात्मा जय हिमालय !

ध्यान में बबतक रहोगे लीन यो फिर आज जागो,
शत्रु प्राङ्गण में तुम्हारे है खड़े नगराज जागो !

दस्थु दल देखो मिटाते
आ रहे पावन शिवाल्य,
देवतात्मा जय हिमालय !

एक अगड़ाई तुम्हारी भग्न कर दे ध्यान हर का,
खोल दे ज्वालामुखी का खेत हर ले भय समर का।

दानवा को आज अपनी
शक्ति का दे दो सुपरिचय !
देवतात्मा जय हिमालय !

वासुरी में तुम विजय की शखच्चनि विकराल कर दो,
रक्त को अङ्गार-वणिका, मोम को भी वज्र कर दो !

जागृण की मात्र-ज्वाला से
जगे नूतन युगोदय !
देवतात्मा जय हिमालय !

राष्ट्र के रक्षाय वण-वण हो समर्पित देश जन का,
मुक्ति जय रणघोष गूजे मदिरो से भीष्म प्रण का।

भरत - भू अपराजिता
वलिवेदिका बन जाय निभय।
देवतात्मा जय हिमालय।

—आरसी प्रसाद सिंह

जन्म १९१३

गुरु-गौरव-गिरि सीमा पर

भारत के उत्तर के उन्नत मानदण्ड की
जीवित जाग्रत मर्यादाओं को विदीण कर,
पदाघात से जीणशीण कर
शुभ्र शान्ति की सौम्य भूति को हत-विकीण कर,
तुमने जो
इतिहास-विरोधी-युग अवरोधी,
श्रेष्ठ शील-सस्कार-निरोधी,
आक्रमण किया है
जनमन के आदग देश पर—
सहज शस्य-श्यामल प्रदेश पर,
हम उसका प्रतिकार करेंगे,
अमर समर में रमे राम के परम ध्यान से
मेघ और मारन-मतग के बल विधान से
उमड़ चली निवघ रक्त की रौद्र धार से
हम तुमको विध्वस्त करेंगे—
इन्द्रायुध से हम सम्पादित पूर्णाहुति सहार करेंगे,
रज में तुमको हे रणरागी विरज करेंगे,
हम गुरु-गौरव गिरि सीमा पर,
मोक्ष द्वार पर,
मानदण्ड का मान प्राप्त कर,
जय वा अनहद नाद करेंगे,
आयुर्वल का सोम पियेंगे !
ब्रह्मा के गन वर्ष जियेंगे !

—केदारनाथ अप्रवाल

जन १९१३

१७७

हिमकिरीट धारो

तीन समुद्रों के संगम में एक चरण के बल पर
बोझ तापस सड़ा हुआ है ध्यानावस्थित होकर,
घुटनों तक लम्बी बाँहों को अधवत्त में मोड़े
सूरज की अगवानी में दोनों हाथों को जोड़े ।

ध्यान ज्ञान के साथ तपस्वी है यह महा धनुधर,
एक हाथ में कमल, धनुष है दूसरे में प्रलयपर,
जन्मजात है इसके कुण्डल और कवच चमकीले
शिरस्त्राण हिमवान् शृंग है जिसके बड़े बटीले ।

ध्यान मग्न ऐसे तापस पर किमते धार किया है?
छिपकर छुरा चला माये पर रक्त उछाल दिया है,
शिरस्त्राण पर लाल लहू के चमक रहे अगारे
घघक उठी है आग सम्हल जाओ निमम हत्यारे ।

प्रत्यक्षा खिचते ही दुश्मन पीठ गिया भागा है
योगी के अघरो पर रण का नया मन्त्र जागा है,
अपने आप अमोघ शक्ति के गीत उठे आते हैं
अफ्रीका एशिया जिन्हें सुन सुन कर दुहराते हैं ।

एक गीत का बोल प्रगति का रस यह नहीं रुकेगा,
प्राण चुके, बलिदानी वीरों का श्रम नहीं चुकेगा,
झुग जाये दीवार चीन की नरम हरी टहनी-सी
लेकिन आत्रान्ता के आगे भारत नहीं भुकेगा ।

एक गीत के बोल हमें जननत्र बहुत प्यारा है
तानाशाही पद्धतियों को हमने धिक्कारा है,
रक्षा, मित्र, मलय की आज़ादी का हर सनिक
हमको लगना था कि हमारी आँगा का तारा है ।

एक गीत के बोले कि जय हो उन सब मानाआ की
जिनके बेटे गोदी लेंटे भीत नरी छाआ की,
धूँ नही मिल सकी हिमालय को सिर पर धरने का
धाय हुआ वह छकर बर्फ जवाना के पाआ की ।

सारे जल में एक चरण पर खड़ा हुआ है योगी,
कहता है—माँ बोलो, बोलो क्या कुर्बानी लोगी,
म सूरज का पुत्र कण हूँ, कुण्डल-कवच-समन्वित
कर शस्त्र सधान, सिफ तुमको करना है इंगित ।

अगर कहो तो पीत रक्त से गिरस्त्राण यह घो दूँ
तानाशाही मुण्ड तुम्हारी माला बीच पिरा दूँ,
फिर कोई गैतान इधर का रुख न कभी कर पाये
परंत-परंत घाटी-घाटी तीर नुकीले बा दूँ ।

एक बार घोखा खाया है फिर न कभी खाऊंगा
चीनी चालो के कुचक में अब न कभी आऊंगा,
कवच किरीट और कुण्डल मेरे सहजात महोदर
इन्हें नहीं छोड़ूंगा, अब मैं विरथ नहीं जाऊंगा ।

मैं सूरज का पुत्र
दिशाआ में गुजित मेरी रणमेरी,
मेरा मुकुट रहेगा मेरा,
मेरी भूमि रहेगी मेरी ।

—राजनारायण बिसारिया
जन्म १९३१

परम प्रीति से फैला

देखा वरमुद्रा मे दक्षिण करतुमने है

देखो अब उठी हुई लौह-मुष्टि

आगे बढ़ जा सकती ऊपर हिमालय के ।

भङ्गुर समझ जिसे किया था प्रहार वही

वन अखंड वज्रखंड, मृत्यु-प्रण एक शपथ

व्याकुमारी से हिमगिरितक फैल गया ।

गया हूँ हिमालय के पार बड़ बार मैं भी

लेकर अमृतमयी वाणी अभिताम की ।

किंतु तुम आये हो शक्तलुब्ध श्वापद वन,

तभी स्वीकार करवायेंगे ऋण तुम से,

निष्कलक कर, हिमवत का पवित्र हिम

जिस दिन तुम्हारे इन मद-घूर्णित चक्षुओं की

लाली दूर कर देंगे ।

—प्रेमेश मिश्र

जन्म १९०५

मानसरोवर आमुख है

देहरी है लड़ाख हमारी
नेफा घर का द्वार है,
आंगन है आमाग हिमालय
आंगन की दीवार है।
ककर ककर गिवगकर है
तीय राज कैलाग का।
मानसरोवर आमुख है
निज भारत के इतिहास का।

—नीरज

१९२६

तुम हमारी चोटियों की वर्ष को यो मत कुरेदो

आँधियों ने गोद में हमको खिलाया है न भूलो,
कण्टको ने मिर हमें सादर भुकाया है न भूलो,
सिंधु का मथ कर कलेजा हम सुधा भी शोध लामे,
जो' हमारे तेज से सूरज लजाया है न भूलो !

वे हमी तो है कि इव हुकार से यह भूमि काँपी,
वे हमी तो ह, जिन्होंने तीन डग में सृष्टि नापी,
और वे भी हम, कि जिनकी सम्पत्ता के विजयरथ की,
धूल उड़कर छोड़ आयी छाप अपनी विश्वव्यापी !

वध हो आइ भृशुटि तो ये अचल नगराज डोले,
दश दिशाआ के सत्रल दिक्पाल ये गजराज डोले,
डोल उट्ठी है धरा, अम्बर, भुवन, नक्षत्र, मण्डल,
ढीठ अत्याचागिया के [अहकारी ताज डोले !

सुयग की प्रस्तर शिला पर चिह्न गहरे ह हमारे,
मान गियरा पर धवल ध्वज चिन्ह लहरे ह हमारे,
वेग जिनका या कि जैसे काल की अगडाइयाँ हा,
उन तरगा में निडर जल्लान ठहरे ह हमारे !

मस्त यागी ह कि हम सुख देगवर सबका सुगी ह,
बुँठ अजब मन है कि हम दुःख देगवर सबका दुगी ह,
तुम हमारी चोटिया की वर्ष को या मत कुरेदा,
देखना लावा हृदय में है कि हम ज्वालामुखी है !

लास्य भी हमने किये औ' ताण्डव हमने किये हैं,
वग मोरा और शिव के, विष पिया है औ' जिये हैं,
दूध मा का, या कि चदन या कि केसर जो समझ लो,
यह हमारे देश की रज है, कि हम इसके लिए हैं ।

—रामानन्द दोषी

जन्म १९२१

वतन का शिवाला

बलाओ का मंदिर अदब का शिवाला,
वतन का पुराना निगहवाँ हिमाला,
यह भारत का मस्तक है भारत का मस्तक
बिसी के झुकाये नहीं झुकनेवाला ।
हिमाला की चट्टान वन वर उड़ेंगे ।
हम एक-एक चप्पा की छातिर लड़ेंगे ।

नहीं हमको अग्यार की अग्र जरूरत,
हमारा वतन हम करेंगे हिफाजत,
है चीनी लुटेरो को आने का क्या हक ?
फरिश्ता भी आये तो लेकर इजाजत,
फलक यह नहीं सर जमीने चमन है ।
यह जघत नहीं है हमारा वतन है ।

बुलाता है तूफा - किनारो से निकलो ।
गुफाओ से मडप से, गारो से निकलो ।
है खतरे में शेरों । तुम्हारी तराई
शिकार आ रहा है, बछारो से निकलो ।
घटा जुलम की देग पर छा गयी है ।
तुम्हारे गरजने की ऋतु आ गयी है ।

फिरे चीनियों के इरादो पे पानी,
चलो हिंद सागर से लेकर रबानी,
तुम आज इस कदर दे दो सुरंगी लहू को,
कि घबरा के खुद रख बदल दे कहानी ।
बढ़ो मनमनाते हुए तीर वन वर ।
चलो आज भारत की शमशीर बनकर ।

यह हमला है हम सबकी इज्जत पे हमला !
 यह हमला है पुरखा की जुरत पे हमला !
 न सीमा तलक इसको सीमित समझना,
 यह हमला है अब पूरे भारत पे हमला !

मगर हमको हमले का कुछ गम नहीं है !
 हमारे महा भी लूह कम नहीं है !

हकीकत है नजरो को धोखा नहीं है,
 यह सरहद पे बाली है सेना नहीं है,
 यहां लाखों मुण्डों की माला चढ़ेगी,
 यह सीमा है लठमन की रेखा नहीं है !

अगर एक हिस्सा भी मिसमार होगा !
 तो अब लाखों लाशों का अम्बार होगा !

हैं शायर की पाकीजा दुनिया पे हमला,
 हैं कवियों की हर ऊंची उपमा पे हमला,
 हैं खतरे में पाकीजगी कल्पना की—
 यह हमला है लहराती गंगा पे हमला !

बचे जिन तरह भी हिमाला बचाओ !
 बचाओ वनन का शिवाला बचाओ !

—नजीर बनारसी

पवत क्या आकाश है

नीला नीला व्योम है नीली नीली रात है
भीगे भीगे फूल है भीनी भीनी वात है।
जङ्गल के सुनसान में प्राणा की गहराइयाँ।
गहरी गहरी कदरा आहो-सी तनहाइयाँ।

बूदा-बाँदी देख कर आतप है पाताल में,
रगो की ही भीड़ है मैदानों के हाल में।
पवत मेरा मच है छिडती जिसपर रागिनी,
गाता हूँ मैं झूमकर सुनती सारी यामिनी।

दुहराती सङ्गीत है ऊँची नीची बादिया,
पतली सी पगडण्डियाँ टेढ़ी मेढ़ी घाटिया।
आधी है झुकझोरती झुकनेवाली डाल को
जुलमी करता तन है जैसे हर कङ्काल को।

चदमा हर पापाण से फूटे मन के स्नेह-मा,
पेड़ा के झुकझूम में बन जाता है गेहूँ सा।
ऊँची नीची ग्राइयाँ टेढ़ा मेढ़ा रास्ता,
लगता है जैसे हमें इनमें ही है वास्ता।

अम्बर ही तो भील है दशन ही तो प्यास है,
झरनेवाली बाँह में पवत क्या आकाश है।
हल्की-हल्की दूब है चगती फिरती छाँव है,
उठती गिरती है हवा भूला भूला गाँव है।



हम देवता

छाती पर वर्फोला अघड भेलता,
मुखरित है फिर पवत का हिमदेवता।

मल्यानिल करता है उसकी आरती,
जयमाला पहनाती भारत भारती।
फूल रक्न का खिलता कुकुम थाल पर,
क्कर का टोका शकर के भाल पर।

ये शताब्दियो की है पावन लावनी।
खेत और खलिहान बने हैं छावनी।

—वीरेन्द्र मिश्र

जन्म १९२८

ताजा पगडण्डियाँ कि जिनको
 घूँप न छू पाइ है,
 आग उगलते हुए वही से
 वायुयान जायेंगे ?
 चरागाह ये जो वशी-म्बर
 तक से रहे अपरिचित,
 लिए हुए वटूक हाथ में
 वही दनुज आयेंगे ?

उमका यह अभिमान हमी से
 बढ कर आँख मिलाये।
 यह मत समझो हम केवल
 बीणा हैं दाख नहीं ह।
 झपटे नहीं किसी पर तो
 यह अथ नहीं हैं इसका,
 पास हमारे केवल सपने
 ही ह पग नहीं ह।

—बालस्यरूप राही

तू भू के प्राणों का शतदल !

मित क्षीर-फेन हीरक-रज से
जो हुए चादनी में निर्मित,
पारद की रेखाजा में चिर
चादी के रंग से चिन्तित,
खुल रहे दगों पर दल भल्लमल !

मपना से सुरभित दृग-जल ले
घोने मुख निन रजनी आती,
उड़ते रंग के अचल से
फिर पोट उपा सध्या जाती,
तू चिर विस्मित तू चिर उज्ज्वल !

भीने मधु स्वर्णिम तारा-सी
किरणों के मिम केसर भरती,
हल्के आतप में रस नीनी
सनरगी रज वरसा करती,
निभर में बहना मधु जविरल !

सीपी से नीलम से द्युतिमय,
कुछ पिङ्ग-अरण कुछ सिन-श्यामल,
कुछ सुख-चंचल कुछ दुःख-मथर
फँले तम से कुछ तूल-विरल,
राने शत शत अलि-चादल !

युग व्यापी अनगिन जीवन के
अर्चन से हिम-श्रृङ्गार किये,
पल पल विहमित क्षण क्षण विकसित
बिन मुरभाये उपहार लिए,
घेरे हैं तू नम के पदनल !

ओ पुलकाकुल ! तू दे दिव को
नत भू के प्राणों का परिचय,
कम्पित उर विजडित अघरो की
साधो का चिर जीवित सचय,
तू वज्र-कठिन विशलय-कोमल !



हे चिर महान्

यह स्वर्णरश्मि छू श्वेतभाल,
वरमा जाती रङ्गीन हास,
सेली बनता है इन्द्र-धनुष,
परिमल मल मल जाता बताम !
पर रागहीन तू हिमनिधान !

नभ में गर्वित भुक्ता न शीश,
पर अक लिए है दीन क्षार,
मन गल जाता नत विश्व देख
तन सह लेता है कुलिश-भार !
कितने मृदु कितने कठिन प्राण !

टूटी है कव तेरी समाधि,
झक्का लौटे शत हार हार,
वह चला दृगा से किन्तु नीर,
सुन कर जलते कण की पुकार !
सुख से विरक्त दुख में ममान !

मेरे जीवन का आज भूक,
तेरी छाया से हो मिलाप
तन तेरी साधकता छू ले,
मन ते वरुणा की चाह नाप !
उर में पावस दृग में बिहान !

—महादेवी

आर्शसा

वभ्रु कृष्णा रोहिणी विश्वरूपा ध्रुवा भूमिपृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽत्र्यष्टा पृथिवीमहम् ॥

कपिला, श्यामल, गरिब बणवाली विश्वरूपा ध्रुव और मघवारक्षित भूमि पर हम
अपराजेय अमर और अक्षत होकर अधिष्ठित रह।

यस्या गायति नृत्यति भूम्या मर्त्या व्यैलवा ।
युद्धन्ते यस्यामात्रदो यस्या वदति दुद्रुभि ।
मा नो भूमि प्रणुदता सपत्नानमपत्न मापृथिवी कृणोतु ॥

जिस पर मुखर मानव गान गाते हैं, नृत्य करते हैं, युद्ध करते हैं, जिस पर
दुद्रुभि बजती है, कोलाहल रहता है, वह पृथिवी प्रतिपक्षियों का दूर अपसारित
कर दे और मुझे शत्रुहीन रखे।

जन विभ्रती बहुधा विवाचस नानाधमाण पृथिवी यथौकमम ।
मह्य धारा द्रविणस्य मे दुहा ध्रुवेव धनुरनपम्फुरन्ती ॥

जा अनेक प्रकार के भिन्न भिन्न भाषावाले और नाना धर्मवाले जना का
यथा स्थान धारण करती है वह पृथिवी मरत्य स्थिर गो के समान हम मुख की
मह्य धारण प्रदान कर।

अपव०



